

Chapter तेरह

हंसावतार द्वारा ब्रह्मा-पुत्रों के प्रश्नों के उत्तर

इस अध्याय में भगवान् कृष्ण उद्धव से बतलाते हैं कि किस तरह मनुष्य इन्द्रियतृप्ति से अभिभूत होकर प्रकृति के तीन गुणों द्वारा बँध जाते हैं और इन गुणों का परित्याग कैसे किया जाता है। तत्पश्चात् भगवान् यह बतलाते हैं कि वे किस प्रकार ब्रह्मा तथा सनकादि मुनियों के समक्ष हंस के रूप में प्रकट हुए तथा उन्हें अनेक गुह्य बातें बतलाई।

सतो, रजो तथा तमो—ये तीन गुण भौतिक बुद्धि से सम्बद्ध हैं, आत्मा से नहीं। मनुष्य को चाहिए कि वह सतोगुण द्वारा रजो तथा तमोगुणों को जीते और तब शुद्ध सतोगुण में कर्म करते हुए सतोगुण से भी परे चला जाय। सतोगुणी वस्तुओं की संगति करने से सतोगुण में पूरी तरह स्थित हुआ जा सकता है। तीनों गुण विभिन्न प्रकार के शास्त्र, जल, स्थान, समय, कर्म से लाभान्वित होने वालों, कर्म की प्रकृति, जन्म, ध्यान, मंत्र, संस्कार सम्बन्धी अनुष्ठानों इत्यादि द्वारा अपने प्रभाव को बढ़ाते हैं।

विवेक के अभाव में मनुष्य अपनी पहचान शरीर से करता है; फलस्वरूप कष्ट उत्पन्न करने वाला रजोगुण, सामान्यतया सात्विक स्थिति में रहने वाले मन पर छा जाता है। ज्यों ज्यों मन निर्णय तथा सन्देह के कार्य करता है, त्यों त्यों यह इन्द्रियतृप्ति की असह्य लालसा उत्पन्न करता है। रजोगुण की उत्कंठाओं से मोहित अभागे व्यक्ति अपनी इन्द्रियों के दास बन जाते हैं। यद्यपि वे जानते रहते हैं कि उन्हें कर्म का अन्तिम फल कष्ट के रूप में मिलेगा, किन्तु वे ऐसा सकाम कर्म किये बिना रह नहीं पाते। दूसरी ओर विवेकशील व्यक्ति अपने को इन्द्रिय-विषयों से विरक्त रखता है और उपयुक्त वैराग्य द्वारा, शुद्ध भक्ति की शरण में जाता है।

ब्रह्माजी का अपना कोई भौतिक कारण नहीं होता। वे सारे जीवों की सृष्टि के कारण हैं और समस्त देवताओं में सर्वप्रधान हैं। तो भी उन्हें जो कार्य करने पड़ते हैं उसके कारण उनका मन विचलित रहता है; इसलिए, जब उनके मन से उत्पन्न सनक इत्यादि पुत्रों ने, इन्द्रियतृप्ति की इच्छाएँ दूर करने के साधनों के विषय में पूछा, तो वे उनका उत्तर नहीं दे पाये। इस विषय में अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने के उद्देश्य से, जब वे भगवान् की शरण में गये, तो वे हंस अवतार के रूप में उनके समक्ष प्रकट हुए।

भगवान् हंस ने आत्मा, चेतना की विभिन्न दशाओं (जागृत, सुप्त, सुषुप्त) तथा संसार पर विजय पाने के साधनों के बारे में उपदेश दिया। भगवान् के इन वचनों को सुन कर सनकादि ऋषियों के सारे संशय दूर हो गये और उन्होंने गहन भगवत्-प्रेम में शुद्ध भक्ति से उनकी पूजा की।

श्रीभगवानुवाच

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा बुद्धेर्न चात्मनः ।

सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात्सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; सत्त्वम्—सतो; रजः—रजो; तमः—तमो; इति—इस प्रकार ज्ञात; गुणाः—प्रकृति के गुण; बुद्धेः—भौतिक बुद्धि से सम्बद्ध; न—नहीं; च—भी; आत्मनः—आत्मा को; सत्त्वेन—सतोगुण से; अन्यतमौ—अन्य दो (रजो तथा तमो); हन्यात्—नष्ट किये जा सकते हैं; सत्त्वम्—सतोगुण को; सत्त्वेन—शुद्ध सतोगुण से; च—भी (नष्ट किया जा सकता है); एव—निश्चय ही; हि—निस्सन्देह।

भगवान् ने कहा : भौतिक प्रकृति के तीन गुण, जिनके नाम सतो, रजो तथा तमोगुण हैं, भौतिक बुद्धि से सम्बद्ध होते हैं, आत्मा से नहीं। सतोगुण के विकास से मनुष्य रजो तथा तमोगुणों को जीत सकता है एवं दिव्य सत्त्व के अनुशीलन से, वह अपने को भौतिक सत्त्व से भी मुक्त कर सकता है।

तात्पर्य : भौतिक जगत में सत्त्व कभी शुद्ध रूप में नहीं रहता, अतः यह सामान्य ज्ञान है कि भौतिक स्तर पर कोई भी निजी प्रेरणा के बिना कार्य नहीं करता। भौतिक जगत में सत्त्व सदैव कुछ न कुछ रजो तथा तमोगुण से मिश्रित रहता है, जबकि *विशुद्ध सत्त्व* सिद्धि के मुक्त पद को बताता है। भौतिक रूप से, मनुष्य ईमानदार तथा दयालु होने पर गर्वित रहता है, किन्तु पूर्णरूपेण कृष्णभावनाभावित हुए बिना, मनुष्य ऐसा सत्य बोलता है, जो अन्ततः महत्त्वपूर्ण नहीं होता और वह ऐसी दया दिखलाता है, जो अन्ततः व्यर्थ होती है। चूँकि कालक्रम से सारी स्थितियाँ तथा व्यक्ति भौतिक मंच से हटते जाते हैं, अतएव हमारी तथाकथित दया तथा सत्य ऐसी स्थितियों पर लागू होते हैं, जो अधिक काल तक विद्यमान नहीं रहेंगे। वास्तविक सत्य शाश्वत है और असली दया लोगों को नित्य सत्य पर स्थित करता है। फिर भी सामान्य व्यक्ति के लिए, भौतिक सत्त्व का अनुशीलन कृष्णभावनामृत के मार्ग में प्रारम्भिक अवस्था ही हो सकता है। उदाहरणार्थ, *श्रीमद्भागवत* के दशम स्कन्ध में कहा गया है कि जो व्यक्ति मांस खाने का आदी है, वह भगवान् कृष्ण की लीलाओं को नहीं समझ सकता। किन्तु सतोगुण के अनुशीलन से, मनुष्य शाकाहारी बन सकता है और कृष्णभावनामृत

की दिव्य विधि को समझ सकता है। चूँकि *भगवद्गीता* में यह स्पष्ट रूप में कहा गया है कि भौतिक गुण निरन्तर चक्कर लगाते हैं, अतएव सतोगुण के उच्च पद का लाभ दिव्य पद पर पहुँचने के लिए उठाना चाहिए। अन्यथा, कालचक्र के घूमने पर वह भौतिक अज्ञान के अंधकार में पुनः चला जायेगा।

सत्त्वाद्धर्मो भवेद्बुद्ध्यात्पुंसो मद्भक्तिलक्षणः ।

सात्त्विकोपासया सत्त्वं ततो धर्मः प्रवर्तते ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वात्—सतोगुण से; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; भवेत्—उत्पन्न होते हैं; वृद्ध्यात्—जो प्रबल बनते हैं; पुंसः—पुरुष का; मत्-भक्ति—मेरी भक्ति से; लक्षणः—लक्षणों से युक्त; सात्त्विक—सतोगुणी वस्तुओं के; उपासया—अनुशीलन से; सत्त्वम्—सतोगुण; ततः—उस गुण से; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; प्रवर्तते—उत्पन्न होता है।

जब जीव प्रबल रूप से सतोगुण में स्थित हो जाता है, तो मेरी भक्ति के लक्षणों से युक्त धार्मिक सिद्धान्त प्रधान बन जाते हैं। जो वस्तुएँ पहले से सतोगुण में स्थित हैं, उनके अनुशीलन से सतोगुण को प्रबल बनाया जा सकता है और इस तरह धार्मिक सिद्धान्तों का उदय होता है।

तात्पर्य : चूँकि प्रकृति के तीनों गुण, श्रेष्ठता के लिए, लगातार झगड़ते रहते हैं, तो फिर यह कैसे सम्भव है कि सतोगुण रजोगुण तथा तमोगुण को दबा दें? भगवान् कृष्ण यहाँ पर बतलाते हैं कि किस तरह कोई व्यक्ति सतोगुण में स्थिर बन सकता है, जिससे स्वतः धार्मिक सिद्धान्तों का उदय होता है। *भगवद्गीता* के चौदहवें अध्याय में, भगवान् कृष्ण ने सतो, रजो तथा तमोगुणी वस्तुओं का विस्तार से वर्णन किया है। इस प्रकार शुद्ध सतोगुण में भोजन, मनोभाव, कार्य, मनोरंजन आदि का चुनाव करने से, मनुष्य उसी गुण में स्थित रहता जाता है। *सत्त्वगुण* की उपयोगिता यह है कि इससे धार्मिक सिद्धान्तों का जन्म होता है, जिनका लक्ष्य तथा जिनका लक्षण कृष्ण-भक्ति है। ऐसी भगवद्भक्ति के बिना, सतोगुण व्यर्थ तथा माया का दूसरा पहलू मात्र माना जाता है। *वृद्ध्यात्* शब्द यह स्पष्ट संकेत करता है कि मनुष्य को *विशुद्ध सत्त्व* के पद को प्राप्त करना चाहिए। *वृद्ध्यात्* शब्द वृद्धि का सूचक है और वृद्धि को तब तक नहीं रोकना चाहिए जब तक प्रौढ़ता न आ जाय। सत्त्व की पूर्ण प्रौढ़ता *विशुद्ध सत्त्व* कहलाती है, जिसमें अन्य किसी गुण का लेशमात्र भी नहीं रहता। शुद्ध सत्त्व में सारा ज्ञान स्वतः प्रकट होता है और मनुष्य सरलता से कृष्ण के साथ अपने शाश्वत प्रेम-सम्बन्ध को समझ सकता है। धर्म का यही असली अर्थ और अभिप्राय है।

इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य इंगित करते हैं कि सतोगुण की वृद्धि से धर्म पुष्ट होता है और धर्म

के पुष्ट होने से सतोगुण प्रबल बनता है। इस तरह, मनुष्य आध्यात्मिक सुख में ऊँचे उठता जाता है।

धर्मो रजस्तमो हन्यात्सत्त्ववृद्धिरनुत्तमः ।

आशु नश्यति तन्मूलो ह्यधर्म उभये हते ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

धर्मः—भक्ति पर आधारित धर्म; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; हन्यात्—नष्ट करते हैं; सत्त्व—सतोगुण की; वृद्धिः—वृद्धि से; अनुत्तमः—सबसे उत्तम; आशु—शीघ्र; नश्यति—नष्ट हो जाता है; तत्—रजो तथा तमोगुण का; मूलः—मूल, जड़; हि—निश्चय ही; अधर्मः—अधर्म; उभये हते—दोनों के नष्ट हो जाने पर।

सतोगुण से प्रबलित धर्म, रजो तथा तमोगुण के प्रभाव को नष्ट कर देता है। जब रजो तथा तमोगुण परास्त हो जाते हैं, तो उनका मूल कारण, जो कि अधर्म है, तुरन्त ही नष्ट हो जाता है।

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च ।

ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

आगमः—शास्त्र; अपः—जल; प्रजाः—जनता या अपने बच्चों की संगति; देशः—स्थान; कालः—समय; कर्म—कर्म; च—भी; जन्म—जन्म; च—भी; ध्यानम्—ध्यान; मन्त्रः—मंत्रोच्चारण; अथ—तथा; संस्कारः—शुद्धि के अनुष्ठान; दश—दस; एते—ये; गुण—गुण; हेतवः—कारण।

शास्त्रों के गुण, जल, बच्चों या जनता से संगति, स्थान विशेष, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मंत्रोच्चार तथा संस्कार के अनुसार, प्रकृति के गुण भिन्न भिन्न प्रकार से प्रधानता प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : ऊपर जो दस वस्तुएँ गिनाई गई हैं, उनमें उत्तम तथा अधम गुण हैं, अतएव उनकी पहचान सत्त्व, रज अथवा तम के रूप में की गई है। सात्विक शास्त्र, शुद्ध जल, सात्विक मैत्री इत्यादि का चुनाव करके, सतोगुण में वृद्धि की जा सकती है। मनुष्य को चाहिए कि इन दस वस्तुओं में से किसी भी ऐसी वस्तु से बचे जो प्रकृति के किसी निम्न गुण द्वारा दूषित होने वाली हो।

तत्तत्सात्त्विकमेवैषां यद्यद्बुद्धाः प्रचक्षते ।

निन्दन्ति तामसं तत्तद्राजसं तदुपेक्षितम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत् तत्—वे वे वस्तुएँ; सात्त्विकम्—सतोगुण में; एव—निस्सन्देह; एषाम्—इन दसों में से; यत् यत्—जो जो; बुद्धाः—प्राचीन ऋषि यथा व्यासदेव जो वैदिक ज्ञान में पटु हैं; प्रचक्षते—प्रशंसा करते हैं; निन्दन्ति—निन्दा करते हैं; तामसम्—तमोगुणी; तत् तत्—वे वे वस्तुएँ; राजसम्—रजोगुण में; तत्—मुनियों द्वारा; उपेक्षितम्—न तो प्रशंसित, न आलोचित, सर्वथा त्यक्त।

अभी मैंने जिन दस वस्तुओं का उल्लेख किया है, उनमें से जो सात्विक वस्तुएँ हैं उनकी प्रशंसा तथा संस्तुति, जो तामसिक हैं उनकी आलोचना तथा वहिष्कार एवं जो राजसिक हैं उनके

प्रति उपेक्षा का भाव, उन मुनियों द्वारा व्यक्त किया गया है, जो वैदिक ज्ञान में पटु हैं।

सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान्सत्त्वविवृद्धये ।
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत्स्मृतिरपोहनम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सात्त्विकानि—सतोगुणी वस्तुएँ; एव—निस्सन्देह; सेवेत—अनुशीलन करे; पुमान्—पुरुष; सत्त्व—सतोगुण; विवृद्धये—बढ़ाने के लिए; ततः—उस (सतोगुण में वृद्धि) से; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्तों में स्थिर; ततः—उस (धर्म) से; ज्ञानम्—ज्ञान प्रकट होता है; यावत्—जब तक; स्मृतिः—अपने नित्य स्वरूप का स्मरण करते हुए, आत्म-साक्षात्कार; अपोहनम्—दूर करना (शरीर तथा मन से मोहमयी पहचान)।

जब तक मनुष्य आत्मा विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान को पुनरुज्जीवित नहीं कर लेता और प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न भौतिक शरीर तथा मन से मोहमयी पहचान को हटा नहीं देता, तब तक उसे सतोगुणी वस्तुओं का अनुशीलन करते रहना चाहिए। सतोगुण के बढ़ाने से, वह स्वतः धार्मिक सिद्धान्तों को समझ सकता है और उनका अभ्यास कर सकता है। ऐसे अभ्यास से दिव्य ज्ञान जागृत होता है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति सतोगुण का अनुशीलन करना चाहता है, उसे निम्नलिखित बातों पर विचार करना चाहिए। उसे ऐसे शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए जो मनमाने चिंतन तथा इन्द्रियतृप्ति से विरक्ति की शिक्षा देते हैं, न कि भौतिक अज्ञान बढ़ाने वाले अनुष्ठानों तथा मंत्रों की शिक्षा देने वाले शास्त्रों का। ऐसे भौतिकतावादी शास्त्र भगवान् पर ध्यान न देने के कारण मूलतः नास्तिक होते हैं। उसे अपनी प्यास बुझाने तथा शरीर को स्वच्छ रखने के लिए शुद्ध जल ग्रहण करना चाहिए। भक्त को सुगंधित जल, इत्र, शराब इत्यादि का प्रयोग करने की आवश्यकतानहीं है क्योंकि ये सभी जल के प्रदूषित रूप हैं। उसे ऐसे व्यक्तियों की संगति करनी चाहिए जो संसार से विरक्ति का अनुशीलन करते हैं न कि उन व्यक्तियों से जिनके चरित्र पापमय हों या जो भौतिकतावादी आसक्ति में जकड़े हों। उसे एकान्त स्थान में रहना चाहिए जहाँ वैष्णवों के बीच भक्ति का अभ्यास और चर्चा की जाती हो। उसे व्यस्त राजमार्गों, दूकानों, खेल के स्थानों के प्रति तत्क्षण आकृष्ट नहीं होना चाहिए। जहाँ तक समय का सम्बन्ध है, उसे प्रातः चार बजे उठना चाहिए और शुद्ध ब्राह्म मुहूर्त का उपयोग कृष्णभावनामृत में अग्रसर होने में करना चाहिए। इसी तरह उसे अर्द्धरात्रि जैसे समय के पापपूर्ण प्रभाव से बचना चाहिए, जिसमें भूत-प्रेत तथा असुर सक्रिय रहते हैं। जहाँ तक कर्म का सम्बन्ध है, उसे अपने नियत कर्म करने

चाहिए, आध्यात्मिक जीव के विधि-विधानों का पालन करना चाहिए और अपनी सारी शक्ति पुण्यकर्मों में लगानी चाहिए। समय को व्यर्थ के या भौतिक कार्यों में नहीं बिताना चाहिए, जिनकी आधुनिक समाज में भरमार है। उसे प्रामाणिक गुरु से दीक्षारूपी दूसरा जन्म लेकर तथा हरे कृष्ण मंत्र का उच्चारण सीख कर सतोगुणी जीवन बनाना चाहिए। उसे किसी राजसी अथवा तामसी अवैध योगिक या धार्मिक सम्प्रदाय में दीक्षा नहीं लेनी चाहिए। उसे भगवान् का ध्यान समस्त यज्ञों के भोक्ता के रूप में करना चाहिए। इसी तरह, उसे महान् भक्तों तथा सन्त पुरुषों के जीवनो का ध्यान करना चाहिए। उसे कामुक स्त्रियों तथा ईर्ष्यालु मनुष्यों का ध्यान नहीं करना चाहिए। जहाँ तक मंत्रों की बात है, उसे श्री चैतन्य महाप्रभु का उदाहरण सामने रख कर हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करना चाहिए। उसे अन्य गीत, काव्य या माया की प्रशंसा वाले मंत्रों का कीर्तन नहीं करना चाहिए। उसे अपनी आत्मा शुद्ध करने के लिए संस्कार सम्पन्न करने चाहिए, न कि अपने परिवार को भौतिक आशीर्वाद प्राप्त कराने के लिए।

जो व्यक्ति सतोगुण को बढ़ाता है, वह निश्चय ही धर्म में स्थिर हो जाता है और उसमें स्वतः ज्ञानोदय होता है। ज्ञान के बढ़ने पर मनुष्य शाश्वत आत्मा तथा परमात्मा, भगवान् कृष्ण, को समझने में समर्थ होता है। इस तरह तीन गुणों से उत्पन्न स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के कृत्रिम आरोपन से आत्मा मुक्त हो जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान जीव को आच्छादित करने वाली भौतिक उपाधियों को भस्म कर देता है और तब मनुष्य का असली, शाश्वत जीवन प्रारम्भ होता है।

वेणुसङ्घर्षजो वह्निर्दग्ध्वा शाम्यति तद्वनम् ।

एवं गुणव्यत्ययजो देहः शाम्यति तत्क्रियः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

वेणु—बाँस की; सङ्घर्ष-जः—रगड़ से उत्पन्न; वह्निः—आग; दग्ध्वा—जलाकर; शाम्यति—शान्त हो जाती है; तत्—बाँस के; वनम्—जंगल को; एवम्—इस प्रकार; गुण—गुणों के; व्यत्यय-जः—अन्योन्य क्रिया से उत्पन्न; देहः—भौतिक शरीर; शाम्यति—शान्त की जाती है; तत्—वह अग्नि; क्रियः—वही कार्य करके।

बाँस के जंगल में कभी कभी वायु बाँस के तनों में रगड़ उत्पन्न करती है और ऐसी रगड़ से प्रज्वलित अग्नि उत्पन्न हो जाती है, जो अपने जन्म के स्रोत, बाँस के जंगल, को ही भस्म कर देती है। इस प्रकार अग्नि अपने ही कर्म से स्वतः प्रशमित हो जाती है। इसी तरह प्रकृति के भौतिक गुणों में होड़ तथा पारस्परिक क्रिया होने से, स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होते हैं। यदि मनुष्य अपने मन तथा शरीर का उपयोग ज्ञान का अनुशीलन करने में करता है, तो ऐसा ज्ञान देह

को उत्पन्न करने वाले गुणों के प्रभाव को नष्ट कर देता है। इस तरह, अग्नि के ही समान, शरीर तथा मन अपने जन्म के स्रोत को विनष्ट करके अपने ही कर्मों से शान्त हो जाते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *गुणव्यत्यय-जः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *व्यत्यय* सूचक है वस्तुओं के सहज क्रम में परिवर्तन या उलट-फेर का। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने व्यत्यय की धारणा को संस्कृत के पर्यायवाची शब्द *वैषम्य* से वर्णित किया है, जो असमानता का सूचक है। अतः *गुण व्यत्ययजः* शब्द से यह समझा जाता है कि शरीर तीन भौतिक गुणों के अस्थायी सम्बन्धों से उत्पन्न होता है और ये गुण सर्वत्र परिवर्तनशील अनुपातों में विद्यमान रहते हैं। इन गुणों के बीच निरन्तर संघर्ष चलता है। कभी कभी अच्छा व्यक्ति काम से पीड़ित होता है और कभी कभी कामुक व्यक्ति सब कुछ त्याग कर विश्राम चाहता है। अज्ञानी व्यक्ति कभी कभी अपने दूषित जीवन से ऊब जाता है और कामुक व्यक्ति कभी कभी तमोगुणी आदतों में लीन रहता है। इस तरह गुणों में पारस्परिक संघर्ष के कारण, मनुष्य संसार-भर में अपने कर्म द्वारा एक के बाद दूसरा शरीर धारण करके घूमता रहता है। कहा गया है कि विविधता भोग की जननी है, अतएव गुणों की विविधता से यह आशा बँधती है कि बद्धजीव को बदली परिस्थितियों में दुख तथा निराशा से सुख तथा आशा का संचार हो सकता है। किन्तु यदि किसीको सुख मिल भी जाय तो तुरन्त ही वह गुणों के अनिवार्य प्रवाह के द्वारा विचलित कर दिया जायेगा।

श्रीउद्धव उवाच

विदन्ति मर्त्याः प्रायेण विषयान्पदमापदाम् ।

तथापि भुञ्जते कृष्ण तत्कथं श्वखराजवत् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—उद्धव ने कहा; विदन्ति—जानते हैं; मर्त्याः—मनुष्यगण; प्रायेण—सामान्यतया; विषयान्—इन्द्रियतृप्ति; पदम्—स्थिति; आपदाम्—अनेक विपत्तियों की; तथा अपि—फिर भी; भुञ्जते—भोगते हैं; कृष्ण—हे कृष्ण; तत्—ऐसी इन्द्रियतृप्ति; कथम्—कैसे सम्भव है; श्व—कुत्ते; खर—गधे; अज—तथा बकरे; वत्—सदृश।

श्री उद्धव ने कहा : हे कृष्ण, सामान्यतया मनुष्य यह जानते हैं कि भौतिक जीवन भविष्य में महान् दुख देता है, फिर भी वे भौतिक जीवन का भोग करना चाहते हैं। हे प्रभु, यह जानते हुए भी, वे किस तरह कुत्ते, गधे या बकरे जैसा आरचण करते हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगत में भोग की मानक विधियाँ हैं—यौन, धन तथा मिथ्या प्रतिष्ठा। ये सब

बहुत ही कष्ट के बाद प्राप्त होती हैं और अन्त में समाप्त हो जाती हैं। भौतिक जीवन में व्यस्त व्यक्ति वर्तमान काल में कष्ट पाता है और उसे जन्म-मृत्यु के चक्र से उबरने की कोई सम्भावना नहीं दिखती। अतः मनुष्य जो इन वस्तुओं को देख चुके हैं और उन्हें जानते हैं, वे किस तरह जीवन का भोग कुत्तों, गधों तथा बकरों की तरह करते हैं? प्रायः कुत्ता कुतिया के पास सम्भोग की इच्छा से जाता है किन्तु हो सकता है कि कुतिया आकृष्ट न हो और वह दाँत दिखाकर उसे काटने दौ। तो भी वह किञ्चित् संभोग के लिए पीछे लगा रहता है। इसी तरह, बहुधा, ऐसे स्थान से भोजन चुराने पर जहाँ वह जानता है कि उसे नहीं जाना चाहिए, कुत्ते की पिटाई हो सकती है या वह गोली से मारा जा सकता है। गधा गधी के प्रति अत्यधिक आकृष्ट रहता है किन्तु प्रायः गधी उसे दुलत्ती मारती है। इसी तरह, गधे का मालिक मुट्ठी-भर घास देकर, जो बेचारा गधा कहीं से भी प्राप्त कर सकता है, उस पर भारी बोझा लादता है। बकरा प्रायः वध करने के लिए पाला जाता है और वधशाला में लाये जाने पर भी वह बकरी के साथ यौन-सुख प्राप्त करने का निर्लज्जता से प्रयास करता है। इस तरह, मारे-पीटे, वध किये जाने के भय के बावजूद पशु अपनी मूर्खतापूर्ण इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं। भला कोई शिक्षित व्यक्ति इस तरह का गर्हित जीवन बिताना चाहेगा, जिसमें पशुओं जैसा ही फल प्राप्त होना है? यदि सतोगुण के अनुशीलन से मनुष्य का जीवन सुख, प्रकाश तथा भावी फल से परिपूर्ण हो, तो कोई रजो तथा तमोगुणों का अनुशीलन क्यों करना चाहेगा? यही उद्धव का प्रश्न है।

श्रीभगवानुवाच

अहमित्यन्यथाबुद्धिः प्रमत्तस्य यथा हृदि ।

उत्सर्पति रजो घोरं ततो वैकारिकं मनः ॥ ९ ॥

रजोयुक्तस्य मनसः सङ्कल्पः सविकल्पकः ।

ततः कामो गुणध्यानाद्दुःसहः स्याद्भिर्दुर्मतेः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अहम्—शरीर तथा मन के साथ झूठी पहचान; इति—इस प्रकार; अन्यथा-बुद्धिः—मोहमय ज्ञान; प्रमत्तस्य—वास्तविक बुद्धि से रहित है, जो उसका; यथा—तदनुसार; हृदि—मन के भीतर; उत्सर्पति—उठती है; रजः—कामवासना; घोरम्—भयावह कष्ट देने वाला; ततः—तब; वैकारिकम्—(मूलतः) सतोगुण में; मनः—मन; रजः—रजोगुण में; युक्तस्य—लगा हुआ है, जो उसका; मनसः—मन का; सङ्कल्पः—संकल्प; स-विकल्पकः—बदलाव सहित; ततः—उससे; कामः—पूर्ण भौतिक इच्छा; गुण—गुणों में; ध्यानात्—ध्यान से; दुःसहः—असह्य; स्यात्—ऐसा ही हो; हि—निश्चय ही; दुर्मतेः—मूर्ख व्यक्ति का।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, बुद्धिरहित व्यक्ति सर्वप्रथम अपनी झूठी पहचान भौतिक शरीर

तथा मन के साथ करता है और जब किसी की चेतना में ऐसा मिथ्या ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तो महान् कष्ट का कारण, भौतिक काम (विषय-वासना), उस मन में व्याप्त हो जाता है, जो स्वभाव से सात्विक होता है। तब काम द्वारा दूषित मन भौतिक उन्नति के लिए तरह-तरह की योजनाएँ बनाने में एवं बदलने में लीन हो जाता है। इस प्रकार सदैव गुणों का चिन्तन करते हुए, मूर्ख व्यक्ति असह्य भौतिक इच्छाओं से पीड़ित होता रहता है।

तात्पर्य : जो लोग इन्द्रियतृप्ति भोगना चाहते हैं, वे वास्तव में बुद्धिमान नहीं हैं, यद्यपि वे अपने को सर्वाधिक बुद्धिमान मानते हैं। यद्यपि ऐसे मूर्ख लोग अनेक पुस्तकों, गीतों, समाचार-पत्रों, टेलीविजन कार्यक्रमों, नगर समितियों इत्यादि में उनकी आलोचना करते हैं, किन्तु वे क्षण-भर भी भौतिक जीवन से अपने को विलग नहीं कर पाते। जिस विधि से मनुष्य माया में असहाय होकर बँधा होता है, उसका स्पष्ट वर्णन यहाँ पर हुआ है।

भौतिकतावादी व्यक्ति सदैव यही सोचता रहता है—“ओह! कितना अच्छा मकान है। काश, मैं इसे खरीद सकता” अथवा, “कितनी सुन्दर है यह स्त्री! काश, मैं इसका स्पर्श कर सकता” या “यह कितना अच्छा पद है! काश, मैं इस पर आसीन हो सकता।” *संकल्पः स-विकल्पः* यह सूचित करता है कि भौतिकतावादी व्यक्ति अपने भौतिक भोग को बढ़ाने के लिए सदैव नई नई योजनाएँ बनाता रहता है या पुरानी योजनाओं में संशोधन करता रहता है, यद्यपि अपने अच्छे क्षणों में वह भौतिक जीवन को दुख से भरा हुआ स्वीकार करता है। जैसाकि सांख्य दर्शन में बतलाया गया है, मन की उत्पत्ति सतोगुण से होती है और मन की सहज शान्त अवस्था कृष्ण का शुद्ध प्रेम है, जिसमें कोई मानसिक विक्षोभ, निराशा या द्विधा नहीं रहती। मन को कृत्रिम रूप से रजो या तमोगुण में नीचे ले जाया जाता है, जिसमें मनुष्य कभी भी तुष्ट नहीं रहता।

करोति कामवशगः कर्माण्यविजितेन्द्रियः ।

दुःखोदकाणि सम्पश्यन्नजोवेगविमोहितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

करोति—करता है; काम—भौतिक इच्छाओं के; वश—अधीन; गः—जाकर; कर्माणि—सकाम कर्म; अविजित—अवश्य; इन्द्रियः—जिसकी इन्द्रियाँ; दुःख—दुख; उदकाणि—भावी फल के रूप में लाते हुए; सम्पश्यन्—स्पष्टदेखते हुए; रजः—रजोगुण का; वेग—वेग से; विमोहितः—मोहग्रस्त।

जो भौतिक इन्द्रियों को वश में नहीं करता, वह भौतिक इच्छाओं के वशीभूत हो जाता है

और इस तरह वह रजोगुण की प्रबल तरंगों से मोहग्रस्त हो जाता है। ऐसा व्यक्ति भौतिक कर्म करता रहता है, यद्यपि उसे स्पष्ट दिखता है कि इसका फल भावी दुख होगा।

रजस्तमोभ्यां यदपि विद्वान्विक्षिप्तधीः पुनः ।
अतन्द्रितो मनो युञ्जन्दोषदृष्टिर्न सज्जते ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

रजः—तमोभ्याम्—रजो तथा तमोगुणों से; यत् अपि—यद्यपि; विद्वान्—विद्वान् व्यक्ति; विक्षिप्त—मोहग्रस्त; धीः—बुद्धि; पुनः—फिर; अतन्द्रितः—सावधानी से; मनः—मन; युञ्जन्—लगाते हुए; दोष—भौतिकआसक्ति का कल्मष; दृष्टिः—स्पष्ट देखते हुए; न—नहीं; सज्जते—लिप्त नहीं होता।

यद्यपि विद्वान् पुरुष की बुद्धि रजो तथा तमोगुणों से मोहग्रस्त हो सकती है, किन्तु उसे चाहिए कि वह सावधानी से अपने मन को पुनः अपने वश में करे। गुणों के कल्मष को स्पष्ट देखने से वह आसक्त नहीं होता।

अग्रमत्तोऽनुयुञ्जीत मनो मय्यर्पयञ्छनैः ।
अनिर्विण्णो यथाकालं जितश्वासो जितासनः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अग्रमत्तः—सतर्क तथा गम्भीर; अनुयुञ्जीत—स्थिर करे; मनः—मन; मयि—मुझमें; अर्पयन्—लीन करते हुए; शनैः—धीरे धीरे; अनिर्विण्णः—आलसी या खिन्न हुए बिना; यथा-कालम्—दिन में कम से कम तीन बार (प्रातः, दोपहर तथा संध्या-समय); जित—जीत कर; श्वासः—श्वास लेने की विधि; जित—जीत कर; आसनः—बैठने की शैली।

मनुष्य को सावधान तथा गम्भीर होना चाहिए और उसे कभी भी आलसी या खिन्न नहीं होना चाहिए। श्वास तथा आसन की योग-क्रियाओं में दक्ष बन कर, मनुष्य को अपना मन प्रातः, दोपहर तथा संध्या-समय मुझ पर एकाग्र करके इस तरह मन को धीरे धीरे मुझमें पूरी तरह से लीन कर लेना चाहिए।

एतावान्योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः ।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्भावेश्यते यथा ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—वास्तव में यह; योगः—योग-पद्धति; आदिष्टः—आदेश दिया हुआ; मत्-शिष्यैः—मेरे भक्तों द्वारा; सनक-आदिभिः—सनक कुमार इत्यादि द्वारा; सर्वतः—सभी दिशाओं से; मनः—मन को; आकृष्य—खींच कर; मयि—मुझमें; अद्भा—सीधे; आवेश्यते—लीन किया जाता है; यथा—तदनुसार।

सनक कुमार इत्यादि मेरे भक्तों द्वारा पढ़ायी गयी वास्तविक योग-पद्धति इतनी ही हैं कि अन्य सारी वस्तुओं से मन को हटाकर मनुष्य को चाहिए कि उसे सीधे तथा उपयुक्त ढंग से मुझ

में लीन कर दे।

तात्पर्य : यथा शब्द सूचित करता है कि उद्धव की ही तरह हर व्यक्ति को सीधे कृष्ण या कृष्ण के प्रतिनिधि से सुनना चाहिए और अपने मन को भगवान् कृष्ण में एकाग्र करना चाहिए।

श्रीउद्धव उवाच

यदा त्वं सनकादिभ्यो येन रूपेण केशव ।
योगमादिष्टवानेतद्रूपमिच्छामि वेदितुम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; यदा—जब; त्वम्—तुम; सनक-आदिभ्यः—सनक आदि को.; येन—जिससे; रूपेण—रूप से; केशव—हे केशव; योगम्—परब्रह्म में मन को स्थिर करने की विधि; आदिष्टवान्—आपने आदेश दिया है; एतत्—वह; रूपम्—रूप; इच्छामि—चाहता हूँ; वेदितुम्—जानना।

श्री उद्धव ने कहा : हे केशव, आपने सनक तथा उनके भाइयों को किस समय तथा किस रूप में योग-विद्या के विषय में उपदेश दिया? अब मैं इन बातों के विषय में जानना चाहता हूँ।

श्रीभगवानुवाच

पुत्रा हिरण्यगर्भस्य मानसाः सनकादयः ।
पप्रच्छुः पितरं सूक्ष्मां योगस्यैकान्तिकीर्मात्तिम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; पुत्राः—पुत्र; हिरण्य-गर्भस्य—ब्रह्मा के; मानसाः—मन से उत्पन्न; सनक-आदयः—सनक ऋषि इत्यादि ने; पप्रच्छुः—पूछा; पितरम्—अपने पिता (ब्रह्मा) से; सूक्ष्माम्—सूक्ष्म अतएवसमझने में कठिन; योगस्य—योग-विद्या का; एकान्तिकीम्—परम; गतिम्—लक्ष्य।

भगवान् ने कहा, एक बार सनक आदि ब्रह्मा के मानस पुत्रों ने अपने पिता से योग के परम लक्ष्य जैसे अत्यन्त गूढ़ विषय के बारे में पूछा।

सनकादय ऊचुः

गुणेष्वविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो ।
कथमन्योन्यसन्त्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सनक-आदयः ऊचुः—सनक इत्यादि ऋषियों ने कहा; गुणेषु—इन्द्रिय-विषयों में; आविशते—सीधे प्रवेश करता है; चेतः—मन; गुणाः—इन्द्रिय-विषय; चेतसि—मन के भीतर; च—भी; प्रभो—हे प्रभु; कथम्—वह विधि क्या है; अन्योन्य—इन्द्रिय-विषयों तथा मन का पारस्परिक सम्बन्ध; सन्त्यागः—वैराग्य; मुमुक्षोः—मोक्ष की कामना करने वाले का; अतितितीर्षोः—इन्द्रियतृप्ति को पार कर जाने के इच्छुक का।

सनकादि ऋषियों ने कहा : हे प्रभु, लोगों के मन स्वभावतः भौतिक इन्द्रिय-विषयों के प्रति आकृष्ट रहते हैं और इसी तरह से इन्द्रिय-विषय इच्छा के रूप में मन में प्रवेश करते हैं। अतएव

मोक्ष की इच्छा करने वाला तथा इन्द्रियतृप्ति के कार्यों को लाँघने की इच्छा करने वाला व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों तथा मन के बीच पाये जाने वाले इस पारस्परिक सम्बन्ध को कैसे नष्ट करे? कृपया हमें यह समझायें।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर वर्णन हुआ है, जब तक मनुष्य बद्ध रहता है, उसे इन्द्रिय-विषयों के रूप में प्रकृति के गुण निरन्तर विचलित करते रहते हैं और उनके उत्पीड़न से वह वास्तविक जीवन-सिद्धि से वंचित रह जाता है।

श्रीभगवानुवाच

एवं पृष्ठो महादेवः स्वयम्भूर्भूतभावनः ।

ध्यायमानः प्रश्नबीजं नाभ्यपद्यत कर्मधीः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच— भगवान् ने कहा; एवम्—इस प्रकार; पृष्ठः—पूछे जाने पर; महा-देवः—महान् देवता ब्रह्मा; स्वयम्-भूः—बिना जन्म के (गर्भोदकशायी विष्णु के शरीर से सीधे उत्पन्न); भूत—सारे बद्धजीवों के; भावनः—स्रष्टा (बद्ध जीवन के); ध्यायमानः—गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए; प्रश्न—प्रश्न के; बीजम्—सत्य; न अभ्यपद्यत—नहीं पहुँचा; कर्म-धीः—अपने ही कर्मों द्वारा मोहित बुद्धि।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, भगवान् के शरीर से उत्पन्न तथा भौतिक जगत के समस्त जीवों के स्रष्टा स्वयं ब्रह्माजी ने सर्वोच्च देवता होने के कारण सनक आदि अपने पुत्रों के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया। किन्तु ब्रह्मा की बुद्धि अपनी सृष्टि के कार्यों से प्रभावित थी, अतः वे इस प्रश्न का सही उत्तर नहीं ढूँढ सके।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के निम्नलिखित तीन श्लोक उद्धृत किये हैं। नवें अध्याय के श्लोक ३२ में, भगवान् कृष्ण ने ब्रह्मा को भगवान् के असली रूप, गुण तथा कार्यों के विज्ञान का वर दिया। नवें अध्याय के श्लोक ३७ में, भगवान् ने ब्रह्मा को आदेशों का दृढ़ता से पालन किये जाने की आज्ञा दी और पुष्टि की कि इस तरह वे अपने ब्रह्माण्ड-सम्बन्धी निर्णय लेने में कभी मोहग्रस्त नहीं होंगे। छठे अध्याय के श्लोक ३४ में, ब्रह्मा ने अपने पुत्र नारद को आश्चस्त किया, “हे नारद! चूँकि मैंने अत्यन्त उत्साह के साथ भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण की है, अतएव मैंने जो भी कहा है, वह मिथ्या नहीं सिद्ध हुआ, न ही मेरे मन की गति बाधित होती है, न ही पदार्थ के प्रति क्षणिक अनुरक्ति से मेरी इन्द्रियाँ नीचे गिरती हैं।”

ग्यारहवें स्कन्ध के तेरहवें अध्याय के इस श्लोक में कृष्ण कहते हैं कि दुर्भाग्यवश ब्रह्मा अपने

सृजनात्मक कार्यों से विमोहित हो गये। इस तरह उन्होंने भगवान् के शक्तिप्रदत्त प्रतिनिधियों के लिए गम्भीर शिक्षा प्रस्तुत की है। भले ही कोई भगवान् की दिव्य भक्ति के उच्च पद को प्राप्त कर ले, किन्तु सदैव इसका खतरा बना रहता है कि मिथ्या अभिमान किसी भी क्षण भक्ति-मनोवृत्ति को दूषित न कर दे।

स मामचिन्तयद्देवः प्रश्नपारतितीर्षया ।

तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सः—उस (ब्रह्मा) ने; माम्—मुझको; अचिन्तयत्—स्मरण किया; देवः—आदि देवता; प्रश्न—प्रश्न का; पार—अन्त, निष्कर्ष (उत्तर); तितीर्षया—प्राप्त करने या समझने की इच्छा से; तस्य—उस तक; अहम्—मैं; हंस-रूपेण—हंस के रूप में; सकाशम्—दृश्य; अगमम्—हो गया; तदा—उस समय।

ब्रह्माजी उस प्रश्न का उत्तर पाना चाह रहे थे, जो उन्हें उद्विग्न कर रहा था, अतएव उन्होंने अपना मन भगवान् में स्थिर कर दिया। उस समय, मैं अपने हंस रूप में ब्रह्मा को दृष्टिगोचर हुआ।

तात्पर्य : हंस का अर्थ है “हंस पक्षी” जिसमें दूध तथा पानी के मिश्रण में से पौष्टिक दूध को विलग करने की विशेष क्षमता होती है। इसी प्रकार, भौतिक गुणों में से ब्रह्मा की शुद्ध चेतना को विलग करने के लिए, भगवान् कृष्ण हंस के रूप में प्रकट हुए।

दृष्ट्वा माम् उपब्रज्य कृत्वा पादाभिवन्दनम् ।

ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा पप्रच्छुः को भवानिति ॥ २० ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देख कर; माम्—मुझको; ते—वे (मुनिगण); उपब्रज्य—निकट आकर; कृत्वा—करके; पाद—चरणकमलों पर; अभिवन्दनम्—नमस्कार; ब्रह्माणम्—ब्रह्माजी को; अग्रतः—सामने; कृत्वा—करके; पप्रच्छुः—पूछा; कः भवान्—आप कौन हैं; इति—इस प्रकार।

इस प्रकार मुझे देख कर सारे मुनि, ब्रह्मा को आगे करके, आगे आये और मेरे चरणकमलों की पूजा की। तत्पश्चात् उन्होंने साफ साफ पूछा कि, “आप कौन हैं?”

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने टीका की है, “जब ब्रह्माजी मुनियों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाये, तो उन्होंने अपना मन भगवान् के चिन्तन में लगा दिया। तब भगवान् ने हंस का रूप धारण किया और वे ब्रह्मा तथा मुनियों के समक्ष प्रकट हुए, तो उन्होंने भगवान् की विशेष

पहचान के बारे में पूछताछ की।”

इत्यहं मुनिभिः पृष्टस्तत्त्वजिज्ञासुभिस्तदा ।
यदवोचमहं तेभ्यस्तदुद्धव निबोध मे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अहम्—मैं; मुनिभिः—मुनियों के द्वारा; पृष्टः—पूछा जाने पर; तत्त्व—योग के लक्ष्य के विषय में सत्य; जिज्ञासुभिः—जानने की इच्छा रखने वालों के द्वारा; तदा—उस समय; यत्—जो; अवोचम्—बोला; अहम्—मैं; तेभ्यः—उनसे; तत्—वह; उद्धव—हे उद्धव; निबोध—सीखो; मे—मुझसे।

हे उद्धव, मुनिगण योग-पद्धति के परम सत्य को जानने के इच्छुक थे, अतएव उन्होंने मुझसे

इस प्रकार पूछा। मैंने मुनियों से जो कुछ कहा, उसे अब मुझसे सुनो।

वस्तुनो यद्यनानात्व आत्मनः प्रश्न ईदृशः ।
कथं घटेत वो विप्रा वक्तुर्वा मे क आश्रयः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

वस्तुनः—वास्तविकता का; यदि—यदि; अनानात्वे—व्यष्टिहीनता में; आत्मनः—जीवात्मा के; प्रश्नः—प्रश्न; ईदृशः—ऐसा; कथम्—कैसे; घटेत—सम्भव है, अथवा उपयुक्त है; वः—पूछ रहे तुम्हारा; विप्राः—हे ब्राह्मण; वक्तुः—वक्ता का; वा—अथवा; मे—मेरा; कः—क्या है; आश्रयः—असली स्थिति अथवा आश्रय।

हे ब्राह्मणो, यदि तुम लोग मुझसे पूछते हो कि मैं कौन हूँ, तो यदि तुम यह विश्वास करते हो कि मैं भी जीव हूँ और हम लोगों में कोई अन्तर नहीं है—क्योंकि अन्ततः सारे जीव एक हैं—तो फिर तुम लोगों का प्रश्न किस तरह सम्भव या उपयुक्त (युक्ति संगत) है? अन्ततः तुम्हारा और मेरा दोनों का असली आश्रय क्या है?

तात्पर्य : आश्रय का अर्थ है “शरण”। भगवान् कृष्ण के इस प्रश्न का कि, “हमारा वास्तविक आश्रय या शरण क्या है?” यह अर्थ है कि, “हमारी परम प्रकृति या स्वाभाविक स्थिति क्या है?” ऐसा इसलिए है क्योंकि अपनी सहज स्थिति प्राप्त किये बिना कोई प्राणी रुकता या सन्तुष्ट नहीं होता। यहाँ यह उदाहरण दिया जा सकता है कि भले ही कोई सारे जगत का भ्रमण कर ले, किन्तु अन्त में अपने घर लौटने पर ही सन्तुष्ट होता है। इसी प्रकार रोता हुआ बालक अपनी माता के द्वारा आलिंगन किये जाने पर ही चुप होता है। अपनी तथा ब्राह्मणों की शरण अथवा आश्रय के विषय में पूछते हुए, भगवान् हर जीव की नित्य स्वाभाविक स्थिति को सूचित कर रहे हैं।

यदि कृष्ण भी जीव कोटि में होते और उनके समेत सारे जीव एकसमान होते, तो फिर एक जीव

द्वारा ऐसा प्रश्न करने और दूसरे द्वारा उत्तर देने का कोई गम्भीर प्रयोजन न होता। जो उच्च पद पर होता है, केवल वही महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर दे सकता है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्रामाणिक गुरु अपने शिष्य के सारे प्रश्नों का उत्तर देता है, फिर भी गुरु जीव-कोटि में होता है। इसका उत्तर यह है कि प्रामाणिक गुरु अपनी ओर से नहीं अपितु उन भगवान् की ओर से बोलता है, जो विष्णु-कोटि में हैं। जीवात्मा के रूप में बोलने वाला तथाकथित गुरु व्यर्थ होता है और गम्भीर प्रश्नों के सार्थक उत्तर देने में अक्षम होता है। अतः मुनियों का यह प्रश्न कि *को भवान्* (आप कौन हैं?) बताता है कि भगवान् नित्य *व्यष्टि* पुरुष हैं। चूँकि ब्रह्मा आदि मुनियों ने भगवान् को नमस्कार किया और उनकी पूजा की, इसलिए यह भाव है कि वे भगवान् हैं। इस ब्रह्माण्ड के आदि प्राणी ब्रह्मा ने भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी जीव को पूज्य नहीं माना।

भगवान् कृष्ण का असली प्रयोजन योग की पूर्णता को बतलाना है, जिसे मुनिगण जानने के इच्छुक थे। दिव्य ज्ञान प्राप्त हो जाने पर, मन तथा इन्द्रिय-विषयों का पारस्परिक आकर्षण समाप्त हो जाता है। आध्यात्मिक मन विषय-वासनाओं की वस्तुओं के प्रति आकृष्ट नहीं होता। इस तरह मन को आध्यात्मिक बनाने से भौतिक जीवन स्वतः ही शिथिल पड़ जाता है। मुनियों के प्रश्न के औचित्य के बारे में पूछने से, भगवान् गुरु का पद ग्रहण करते हुए, अमूल्य उपदेश देने की तैयारी कर रहे हैं। किसी को प्रामाणिक गुरु से द्वेष नहीं रखना चाहिए, विशेष रूप से तब, जबकि गुरु भगवान् हों, जैसाकि यहाँ पर ब्रह्मा तथा सनक कुमार आदि मुनियों से भगवान् हंस बोल रहे हैं।

पञ्चात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुतः ।

को भवानिति वः प्रश्नो वाचारम्भो ह्यनर्थकः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पञ्च—पाँच तत्त्वों के; आत्मकेषु—बने हुए; भूतेषु—विद्यमान; समानेषु—एक समान; च—भी; वस्तुतः—सार रूप में; कः—कौन; भवान्—आप हैं; इति—इस प्रकार; वः—तुम्हारा; प्रश्नः—प्रश्न; वाचा—वाणी से; आरम्भः—ऐसा प्रयास; हि—निश्चय ही; अनर्थकः—असली अर्थ या अभिप्राय से रहित।

यदि तुम लोग मुझसे यह प्रश्न पूछ कर कि, “आप कौन हैं?” भौतिक देह की बात करना चाहते हो, तो मैं यह इंगित करना चाहूँगा कि सारे भौतिक देह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—इन पाँच तत्त्वों से मिल कर बने हैं। इसलिए, तुम लोगों को इस प्रकार पूछना चाहिए था, “आप पाँच कौन हैं?” यदि तुम लोग यह मानते हो कि सारे भौतिक देह एकसमान तत्त्वों

से बने होने से, अन्ततः एक हैं, तो भी तुम्हारा प्रश्न निरर्थक है क्योंकि एक शरीर से दूसरे शरीर में भेद करने में कोई गम्भीर प्रयोजन नहीं है। इस तरह ऐसा लगता है कि मेरी पहचान पूछ कर, तुम लोग ऐसे शब्द बोल रहे हो जिनका कोई वास्तविक अर्थ या प्रयोजन नहीं है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है “पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण ने यह दिखलाया है कि यदि मुनियों ने यह निर्विशेष दर्शन स्वीकार किया है कि सारे जीव अन्ततः एकसमान हैं, तो उनका यह प्रश्न “आप कौन हैं?” निरर्थक है, क्योंकि एक जीव को दूसरे से पृथक् करने का कोई दार्शनिक आधार नहीं रह जाता। इस श्लोक में भगवान् पंचतत्त्वों से बने शरीर से झूठी पहचान का खण्डन करते हैं। यदि मुनिगण शरीर को आत्मा मान बैठे हैं, तो उनका प्रश्न निरर्थक है क्योंकि तब उन्हें यह पूछना चाहिए था कि, “आप पाँच कौन हैं?” यदि मुनियों ने यह उत्तर दिया होता कि यद्यपि शरीर पंचतत्त्वों से बना है और ये पाँचों मिल कर एक अद्वितीय वस्तु बनाते हैं, तो भगवान् ने पहले ही *समानेषु च वस्तुतः* कह कर इसका उत्तर दे दिया है। मनुष्यों, देवताओं, पशुओं इत्यादि के शरीर एक जैसे पाँच तत्त्वों से बने होते हैं और अनिवार्य रूप से एकसमान होते हैं। इसलिए “आप कौन हैं?” यह प्रश्न निरर्थक है। इसलिए कोई चाहे यह सिद्धान्त माने कि सारे जीव अन्ततः एकसमान हैं अथवा सारे जीव अपने भौतिक शरीरों से अभिन्न हैं, दोनों ही स्थितियों में मुनियों का प्रश्न निरर्थक है।

मुनिगण यह तर्क कर सकते हैं कि विद्वानों में भी अनेक विषयों के बारे में प्रश्न पूछना और उनका उत्तर देना सामान्य जीवन का अंग है। मुनिगण यह इंगित कर सकते थे कि भगवान् कृष्ण ने भी *विप्राः* (हे ब्राह्मण) तथा *वः* (तुम्हारे प्रश्न) कह कर, उनमें अन्तर किया है। इस तरह यह देखा जाता है कि भगवान् भी प्रश्नोत्तर की सामान्य प्रथा को मानते हैं। इस तर्क का उत्तर देने के लिए, भगवान् कहते हैं—*वाचारम्भो ह्यनर्थकः।* भगवान् कहते हैं” *ब्राह्मण* कह कर तुम लोगों को मेरा सम्बोधित किया जाना शब्दाडम्बर है यदि हम अन्ततः भिन्न नहीं हैं। मैंने तो तुम्हारे आने का स्वागत किया है। इसलिए यदि हम अन्ततः एक हैं, तो न तो मेरे कथन, न ही तुम्हारे प्रश्न का कोई अर्थ है। अतएव मुझसे पूछे गये तुम्हारे प्रश्न से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि तुम लोग अधिक बुद्धिमान नहीं हो। तो फिर तुम परम ज्ञान को क्यों जानना चाहते हो? क्या तुम सभी उद्विग्न नहीं हो?”

इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य इंगित करते हैं कि मुनियों का प्रश्न उपयुक्त नहीं था, क्योंकि उन्होंने अपने पिता ब्रह्मा को भगवान् हंस के चरणकमलों की पूजा करते देखा था। चूँकि उनके गुरु तथा पिता हंस की पूजा कर रहे थे, अतः उन्हें तुरन्त ही भगवान् के पद को समझ लेना चाहिए था। इस तरह उनका प्रश्न निरर्थक है।

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः ।

अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

मनसा—मन से; वचसा—वाणी से; दृष्ट्या—दृष्टि से; गृह्यते—ग्रहण किया जाता है, स्वीकार किया जाता है; अन्यैः—अन्य; अपि—यद्यपि; इन्द्रियैः—इन्द्रियों के द्वारा; अहम्—मैं; एव—निस्सन्देह; न—नहीं; मत्तः—मेरे अतिरिक्त; अन्यत्—अन्य कोई वस्तु; इति—इस प्रकार; बुध्यध्वम्—तुम्हें समझना चाहिए; अञ्जसा—तथ्यों के सीधे विश्लेषण से।

इस जगत में, मन, वाणी, आँखों या अन्य इन्द्रियों के द्वारा जो भी अनुभव किया जाता है, वह एकमात्र मैं हूँ, मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। तुम सभी लोग तथ्यों के सीधे विश्लेषण से इसे समझो।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण पहले ही बता चुके हैं कि यदि मुनिगण सारे जीवों को एक मानते हैं या जीव को उसका शरीर मानते हैं, तो उनका यह प्रश्न कि, “आप कौन हैं?” अनुपयुक्त है। अब भगवान् इस धारणा का खंडन करते हैं कि वे इस जगत की प्रत्येक वस्तु से परे तथा भिन्न परमेश्वर रूप हैं। आधुनिक नास्तिक दार्शनिक यह प्रचार करते हैं कि ईश्वर ने इस जगत की सृष्टि की और फिर छुट्टी ले ली। उनके अनुसार ईश्वर का इस जगत से कोई ठोस सम्बन्ध नहीं है, न ही वे मानवीय व्यापारों में हस्तक्षेप करते हैं। अन्ततः वे यह दावा करते हैं कि ईश्वर इतने महान् हैं कि उन्हें जाना नहीं जा सकता, इसलिए ईश्वर को समझने में समय नहीं गँवाना चाहिए। ऐसे मूर्खतापूर्ण विचारों का खण्डन करने के लिए ही यहाँ पर भगवान् बतलाते हैं कि प्रत्येक वस्तु उनकी शक्ति का अंश है, इसलिए वे किसी वस्तु से भिन्न नहीं हैं। भगवान् से पृथक् होकर कोई वस्तु विद्यमान नहीं रह सकती। इस तरह प्रत्येक वस्तु भगवान् की प्रकृति में हाथ बँटाती है, यद्यपि कुछ वस्तुएँ श्रेष्ठ होती हैं और कुछ निकृष्ट। भगवान् मुनियों के प्रश्नों में विरोधाभासों की ओर संकेत करते हैं। यदि भगवान् सर्वोच्च हों भी तो वे अपनी सृष्टि से भिन्न नहीं हैं, अतएव “आप कौन हैं?” इस प्रश्न का कोई अर्थ नहीं है। हम स्पष्ट देख सकते हैं कि भगवान् आध्यात्मिक ज्ञान की गम्भीर विवेचना के लिए मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं।

गुणेषु—इन्द्रिय-विषयों में; आविशते—प्रविष्ट करता है; चेतः—मन; गुणाः—इन्द्रिय-विषय; चेतसि—मन में; च—भी (प्रवेश करते हैं); प्रजाः—मेरे पुत्रों; जीवस्य—जीव का; देहः—बाह्य शरीर, उपाधि के रूप में; उभयम्—इन दोनों; गुणाः—इन्द्रिय-विषय; चेतः—मन; मत्-आत्मनः—परमात्मा रूप में मुझे पाकर।

शब्दार्थ

हे पुत्रो, मन की सहज प्रवृत्ति भौतिक इन्द्रिय-विषयों में प्रविष्ट करने की होती है और इसी तरह इन्द्रिय-विषय मन में प्रवेश करते हैं। किन्तु भौतिक मन तथा इन्द्रिय-विषय दोनों ही उपाधियाँ मात्र हैं, जो मेरे अंशरूप आत्मा को प्रच्छन्न करती हैं।

तात्पर्य : हंसावतार के रूप में भगवान् कृष्ण ब्रह्मा के पुत्रों के सरल से प्रश्न (आप कौन हैं) में विरोधाभासों के बहाने मुनियों को पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान की शिक्षा देने की तैयारी कर रहे हैं, किन्तु पहले वे जीवन की दो भ्रान्त धारणाओं का—कि सारे जीव एकसमान हैं और जीव अपने बाह्य या सूक्ष्म शरीर से अभिन्न हैं—खण्डन कर देते हैं। अतः भगवान् कृष्ण उस कठिन प्रश्न का उत्तर देते हैं जिसने ब्रह्मा को भी चक्कर में डाल दिया था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार ब्रह्मा के पुत्र इस प्रकार सोच रहे थे, “हे प्रभु! यदि यह वास्तव में सच है कि हम मूर्ख हैं, तो फिर भी आपने यह कहा है कि आप ही सर्वस्व हैं क्योंकि आपकी शक्ति के अंश रूप में ही सारी वस्तुएँ हैं। इसलिए आप ही मन तथा इन्द्रिय-विषय भी हैं और हमारे प्रश्न का विषय भी यही है। भौतिक इन्द्रिय-विषय मन के कार्यों में सदा ही प्रवेश करते हैं और इसी तरह मन भौतिक इन्द्रिय-विषयों के भीतर प्रवेश करता है। इसलिए यह उचित ही है कि हम आपसे वह विधि पूछें, जिससे इन्द्रिय-विषय मन में प्रवेश न करें और न मन इन्द्रिय-विषयों में प्रवेश करे। कृपा करके हमें उत्तर दें।” भगवान् इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं “हे पुत्रो! यह तथ्य है कि मन भौतिक इन्द्रिय-विषयों में प्रवेश करता है और इन्द्रिय-विषय मन में प्रवेश करते हैं। इस तरह, यद्यपि जीव मेरे अंश हैं और मेरे ही समान नित्य चेतन हैं और जीव का नित्य स्वरूप मेरे ही समान आध्यात्मिक है, किन्तु बद्ध जीवन में जीव अपने ऊपर मन तथा इन्द्रिय-विषयों को थोप लेता है, जो आत्मा की बाह्य उपाधियों के समान कार्य करते हैं। चूँकि मन तथा इन्द्रिय-विषयों में अन्योन्य क्रिया स्वाभाविक है, अतः ऐसे पारस्परिक आकर्षण को रोकने का प्रयास कैसे किया जा सकता है? चूँकि मन तथा भौतिक इन्द्रिय-विषय व्यर्थ हैं, अतएव इनका परित्याग

करना चाहिए और इस तरह तुम सभी लोग स्वतः भौतिक द्वैत से मुक्त हो सकोगे।”

श्रील श्रीधर स्वामी इंगित करते हैं कि मन का लक्षण यह है कि उसमें अपने को ही परम कर्ता तथा भोक्ता मानने की प्रवृत्ति होती है। अतः स्वाभाविक है कि ऐसी गर्वित मनोवृत्ति से कोई भी व्यक्ति असहाय होकर इन्द्रिय-विषयों द्वारा आकृष्ट कर लिया जाता है। जो अपने को कर्ता तथा भोक्ता मानता है, वह इन्द्रियतृप्ति तथा मिथ्या प्रतिष्ठा अर्थात् भौतिक वस्तुओं का शोषण प्राप्त करने के साधनों की ओर बलात् आकृष्ट होता है। किन्तु मन के ऊपर भी बुद्धि है, जो नित्य आत्मा के अस्तित्व का अनुभव कर सकती है। मन को इन्द्रिय-विषय से विलग कर पाना संभव नहीं है, क्योंकि वे साथ साथ रहते हैं। इसलिए मनुष्य को बुद्धि द्वारा अपने आत्मा रूपी नित्य स्वरूप की, जो कि भगवान् का अंश है, अनुभूति करनी होगी और व्यर्थ की भौतिक मनोवृत्ति का परित्याग करना होगा। जो व्यक्ति अपनी आदि आध्यात्मिक मनोवृत्ति को जागृत कर लेता है, वह स्वतः ही भौतिक आकर्षण से विरक्त हो जाता है। इसलिए इन्द्रियतृप्ति के मिथ्या होने का ज्ञान उत्पन्न करना होगा। जब मन या इन्द्रियाँ भौतिक भोग की ओर आकर्षित होती हैं, तो श्रेष्ठ बुद्धि को ऐसे मोह का तुरन्त पता लगा लेना चाहिए। इस तरह, मनुष्य को अपनी मनोवृत्ति को शुद्ध बनाना चाहिए। भगवद्भक्ति से, ऐसी विरक्ति तथा बुद्धि स्वतः जाग्रत होती हैं और अपने आदि आध्यात्मिक स्वरूप को भलीभाँति जानकर, मनुष्य शुद्ध चेतना में उचित रूप से स्थित होता है।

गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्षणं गुणसेवया ।

गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

गुणेषु—इन्द्रिय-विषयों में; च—तथा; आविशत्—प्रविष्ट हुआ; चित्तम्—मन; अभीक्षणम्—पुनः पुनः; गुण-सेवया—इन्द्रियतृप्ति द्वारा; गुणाः—तथा भौतिक इन्द्रिय-विषय; च—भी; चित्त—मन के भीतर; प्रभवाः—मुख्य रूप से उपस्थित होकर; मत्-रूपः—जिसने अपने को मुझसे अभिन्न समझ लिया है और इस तरह जो मेरे रूप, लीला आदि में लीन रहता है.; उभयम्—दोनों (मन तथा इन्द्रिय-विषय); त्यजेत्—त्याग देना चाहिए।

जिस व्यक्ति ने यह जान कर कि वह मुझसे भिन्न नहीं है, मुझे प्राप्त कर लिया है, वह अनुभव करता है कि मन निरन्तर इन्द्रियतृप्ति के कारण इन्द्रिय-विषयों में रमा रहता है और भौतिक वस्तुएँ मन के भीतर स्पष्टतया स्थित रहती हैं। मेरे दिव्य स्वभाव को समझ लेने के बाद, वह मन तथा इसके विषयों को त्याग देता है।

तात्पर्य : भगवान् पुनः कहते हैं कि मन को उसके विषयों से पृथक् कर पाना अत्यन्त कठिन है क्योंकि मन अपने को, मूलरूप से, हर वस्तु का कर्ता तथा भोक्ता मानता है। किन्तु यह समझ लेना होगा कि मन को त्यागने का अर्थ यह नहीं है कि सारे मानसिक कार्यकलाप त्याग दिये जाँय, अपितु इसका अर्थ है मन को शुद्ध बनाना और अपनी प्रबुद्ध मनोवृत्ति को भगवद्भक्ति में लगाना। चूँकि मन तथा इन्द्रियाँ, सनातन से, इन्द्रिय-विषयों के संसर्ग में रहे हैं, अतएव मन के लिए अपने विषयों को त्याग पाना कैसे सम्भव है क्योंकि ये विषय ही उसके अस्तित्व के आधार हैं? इतना ही नहीं, कि मन भौतिक वस्तुओं के पास पहुँच जाता है, बल्कि मन की इच्छाओं के कारण भौतिक वस्तुएँ मन से बाहर नहीं रह सकतीं। इस प्रकार मन तथा इन्द्रिय-विषयों के मध्य विलगाव न तो सम्भव है, न ही इससे कोई लाभ है। यदि कोई अपने को सर्वश्रेष्ठ मान कर, भौतिक मनोवृत्ति रखता है, तो वह इन्द्रियतृप्ति को दुख का कारण मान कर उसका परित्याग कर सकता है, किन्तु वह ऐसे कृत्रिम पद पर बना नहीं रह सकता, न ही ऐसे परित्याग से कोई काम सधने वाला है। भगवान् के चरणकमलों की शरण में गये बिना, कोरे वैराग्य से इस भौतिक जगत से उद्धार नहीं होने वाला है।

जिस तरह सूर्य की किरणें सूर्य की अंश हैं, उसी तरह सारे जीव भगवान् के अंश हैं। जब जीव अपनी पहचान भगवान् के अंश के रूप में करते हुए, उसी में लीन हो जाता है, तो वह वास्तव में बुद्धिमान बन जाता है और मन तथा इन्द्रिय-विषयों का परित्याग कर देता है। इस श्लोक में *मद् रूपः* शब्द भगवान् के रूप, गुण, लीला तथा संगियों में मन को लीन करने का सूचक है। ऐसे आनन्दमय ध्यान में मग्न होकर, मनुष्य को भगवान् की भक्ति करनी चाहिए। इससे स्वतः ही इन्द्रियतृप्ति का प्रभाव दूर हो जायेगा। जीव में अपने आप मन तथा इन्द्रिय-विषयों से अपनी झूठी पहचान त्याग पाने की शक्ति नहीं होती, किन्तु अपने को भगवान् का अंश-सेवक मान कर, भगवान् की पूजा करने से वह भगवान् की शक्ति से दीप्त होकर, अज्ञान के अंधकार को भगा सकता है।

जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः ।

तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

जाग्रत्—जगा हुआ; स्वप्न:—स्वप्न देखता; सु-सुप्तम्—गहरी नींद; च—भी; गुणतः—गुणों से उत्पन्न; बुद्धि—बुद्धि के; वृत्तयः—कार्य; तासाम्—ऐसे कार्यों से; विलक्षणः—विभिन्न लक्षणों वाला; जीवः—जीव; साक्षित्वेन—साक्षी होने के लक्षण से युक्त; विनिश्चितः—सुनिश्चित किया जाता है।

जगना, सोना तथा गहरी नींद—ये बुद्धि के तीन कार्य हैं और प्रकृति के गुणों द्वारा उत्पन्न होते हैं। शरीर के भीतर का जीव इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न लक्षणों द्वारा सुनिश्चित होता है, अतएव वह उनका साक्षी बना रहता है।

तात्पर्य : आत्मा को भौतिक जगत से कोई सरोकार नहीं होता, उसका इससे कोई स्थायी या प्राकृतिक सम्बन्ध नहीं होता। असली वैराग्य का अर्थ है सूक्ष्म तथा स्थूल पदार्थ से भ्रामक पहचान का परित्याग। सुषुप्तम् सूचक है स्वप्न या चेतन कार्यकलाप से रहित नींद का। इन तीन अवस्थाओं का वर्णन भगवान् ने इस प्रकार किया है—

सत्त्वाज्जागरणं विद्याद्रजसा स्वप्नमादिशेत् ।

प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तूरीयं त्रिषु सन्ततम् ॥

“मनुष्य को जान लेना चाहिए कि जाग्रत अवस्था सतोगुण से उत्पन्न होती है, स्वप्नावस्था रजोगुण से और गहरी स्वप्नरहित नींद तमोगुण से उत्पन्न होती है। चौथा तत्त्व, जो कि शुद्ध चेतना है, इन तीनों से भिन्न है और इन सबों में व्याप्त है।” (भागवत ११.२५.२०) असली स्वतंत्रता का अर्थ है साक्षित्वेन—अर्थात् मोह के कार्यों का साक्षी बन कर रहना। ऐसी लाभप्रद अवस्था कृष्णभावनामृत उत्पन्न होने से प्राप्त होती है।

यर्हि संसृतिबन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः ।

मयि तुर्ये स्थितो जह्यात्त्यागस्तद्गुणचेतसाम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यर्हि—क्योंकि; संसृति—भौतिक बुद्धि या संसार का; बन्धः—बन्धन; अयम्—यह है; आत्मनः—आत्मा का; गुण—प्रकृति के गुणों में; वृत्ति-दः—वृत्तिपरक कार्य देने वाली; मयि—मुझमें; तुर्ये—चौथे तत्त्व में (जाग्रत, सुप्त, सुषुप्त से आगे); स्थितः—स्थित; जह्यात्—त्याग दे; त्यागः—वैराग्य; तत्—उस समय; गुण—इन्द्रिय-विषयों का; चेतसाम्—तथा मन का।

आत्मा भौतिक बुद्धि के बन्धन में बन्दी है, जो उसे प्रकृति के मोहमय गुणों से निरन्तर लगाये रहती है। लेकिन मैं चेतना की चौथी अवस्था—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्त से परे—हूँ। मुझमें स्थित होने पर, आत्मा को भौतिक चेतना का बन्धन त्याग देना चाहिए। उस समय, जीव स्वतः भौतिक इन्द्रिय-विषयों तथा भौतिक मन को त्याग देगा।

तात्पर्य : अब भगवान् कृष्ण उन विशिष्ट प्रश्नों का उत्तर देते हैं जिन्हें मुनियों ने आरम्भ में ब्रह्मा के समक्ष रखा था। अन्ततः आत्मा को भौतिक इन्द्रिय-विषयों तथा प्रकृति के गुणों से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। लेकिन मनुष्य द्वारा भौतिक शरीर से अपनी झूठी पहचान बनाने के कारण ही, प्रकृति के गुणों को मनुष्य को मोहमय कार्यों में लगाने के लिए शक्ति मिलती है। आत्मा पदार्थ के साथ इस झूठी पहचान को नष्ट करके गुणों द्वारा प्रदत्त मोहमय वृत्तियों को त्याग देता है। इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि जीव को इसलिए शक्ति प्रदान नहीं की गई है कि वह स्वतंत्र रूप से अपने को मोह से मुक्त कर सके, अपितु उसे चाहिए कि वह भगवान् की पूर्ण चेतना में रह कर, अपने को कृष्णभावनामृत के पद पर ले जाय।

अहङ्कारकृतं बन्धमात्मनोऽर्थविपर्ययम् ।
विद्वान्निर्विद्य संसारचिन्तां तुर्ये स्थितस्त्यजेत् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अहङ्कार—मिथ्या गर्व से; कृतम्—उत्पन्न; बन्धम्—बन्धन; आत्मनः—आत्मा का; अर्थ—जो वास्तव में उपयोगी है उसका; विपर्ययम्—उल्टा, विरुद्ध; विद्वान्—जानने वाला; निर्विद्य—विरक्त होकर; संसार—जगत में; चिन्ताम्—निरन्तर विचार; तुर्ये—चौथे तत्त्व, भगवान् में; स्थितः—स्थित होकर; त्यजेत्—त्याग दे।

जीव का अहंकार उसे बन्धन में डालता है और जीव जो चाहता है उसका सर्वथा विपरीत उसे देता है। अतएव बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि भौतिक जीवन भोगने की स्थायी चिन्ता को त्याग दे और भगवान् में स्थित रहे, जो भौतिक चेतना के कार्यों से परे है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने इस प्रकार टीका की है : “संसार किस तरह से जीव का बन्धन उत्पन्न करता है और ऐसे बन्धन को कैसे त्यागा जा सकता है? यहाँ पर इसकी व्याख्या भगवान् ने अहंकार-कृतम् शब्द द्वारा की है। मिथ्या गर्व के कारण मनुष्य मोह के पाश में बँध जाता है। अर्थ-विपर्ययम् सूचित करता है कि यद्यपि जीव आनन्दमय जीवन, नित्यता तथा ज्ञान चाहता है, किन्तु वह ऐसी विधियाँ अपनाता है, जो उसके आनन्दमय जीवन तथा नित्यता को आच्छादित करके उसे इनके सर्वथा विपरीत फल देती है। जीव मृत्यु तथा कष्ट नहीं चाहता, किन्तु ये वस्तुतः जगत के फल हैं, अतएव जगत सभी व्यावहारिक कार्यों के लिए व्यर्थ है। बुद्धिमान पुरुष को भौतिक जीवन के दुख का चिन्तन करना चाहिए और इस तरह दिव्य भगवान् में स्थित होना चाहिए। संसार-चिन्ताम् शब्द को इस प्रकार समझा जा सकता है। संसार सूचक है भौतिक बुद्धि का क्योंकि जगत जीव की मिथ्या बौद्धिक

पहचान का प्रतिफल है। इस गलत पहचान के कारण ही मनुष्य संसारचिन्ताम् से अभिभूत हो जाता है। उसे भगवान् में स्थित होना चाहिए और व्यर्थ की चिन्ता त्याग देना चाहिए।”

यावन्नानार्थधीः पुंसो न निवर्तेत युक्तिभिः ।

जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; नाना—अनेक; अर्थ—महत्त्व का; धीः—धारणा; पुंसः—पुरुष का; न—नहीं; निवर्तेत—शमन होता है; युक्तिभिः—उपयुक्त विधियों से (जिन्हें मैंने बताया है); जागर्ति—जाग्रत रहने से; अपि—यद्यपि; स्वपन्—सोते या स्वप्न देखते; अज्ञः—वस्तुओं को उसी रूप में न देखने वाला; स्वप्ने—सपने में; जागरणम्—जाग्रत रह कर; यथा—जिस तरह।

मनुष्य को चाहिए कि मेरे आदेशों के अनुसार वह अपना मन मुझ में स्थिर करे। किन्तु यदि वह हर वस्तु को मेरे भीतर न देख कर जीवन में अनेक प्रकार के अर्थ तथा लक्ष्य देखता रहता है, तो वह, जगते हुए भी, अपूर्ण ज्ञान के कारण, वास्तव में स्वप्न देखता रहता है, जिस तरह वह यह स्वप्न देखे कि वह स्वप्न से जग गया है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति कृष्णभावनाभावित नहीं है, वह यह नहीं समझ सकता कि हर वस्तु भगवान् कृष्ण के भीतर स्थित है, अतएव उसके लिए इन्द्रियतृप्ति से विलग हो पाना असम्भव होता है। वह मोक्ष की कोई विशेष विधि अपना सकता है और अपने को “बचा हुआ” मान सकता है, तो भी उसका भौतिकबन्धन बना रहेगा और वह जगत से अपनी आसक्ति बनाये रखेगा। कभी कभी, वह स्वप्न देखते समय कल्पना करता है कि वह स्वप्न से जग गया है और सामान्य चेतना का अनुभव कर रहा है। इसी तरह, मनुष्य अपने को बचा हुआ (सुरक्षित) मान सकता है, किन्तु यदि वह भगवान् की भक्ति का सन्दर्भ दिये बिना, अच्छे-बुरे के निर्णय में लीन रहता जाता है, तो वह भौतिकवादिता की झूठी पहचान से आच्छादित हुआ बद्धजीव माना जाता है।

असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता भिदा ।

गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

असत्त्वात्—वास्तविक अस्तित्व के अभाव में; आत्मनः—भगवान् से; अन्येषाम्—अन्य; भावानाम्—अस्तित्व की दशाओं के; तत्—उनके द्वारा; कृता—उत्पन्न; भिदा—अन्तर या बिछोह; गतयः—लक्ष्य यथा स्वर्ग जाना; हेतवः—सकाम कर्म जो भावी फल के कारण है; च—भी; अस्य—जीव का; मृषा—झूठा; स्वप्न—सपने का; दृशः—देखने वाले का; यथा—जिस तरह।

उन जगत की अवस्थाओं का जिन्हें भगवान् से पृथक् सोचा जाता है, वास्तविक अस्तित्व

नहीं होता, यद्यपि वे परब्रह्म से पृथक्त्व की भावना उत्पन्न करती है। जिस तरह स्वप्न देखने वाला नाना प्रकार के कार्यों तथा फलों की कल्पना करता है उसी तरह भगवान् से पृथक् अस्तित्व की भावना से जीव झूठे ही सकाम कर्मों को भावी फल तथा गन्तव्य का कारण सोचता हुआ कर्म करता है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने निम्न प्रकार से टीका की है : “यद्यपि भगवान् कृष्ण ने हंसावतार के रूप में उस बुद्धि की निन्दा की है, जो जगत में द्वैत तथा पृथक् मूल्य देखती है, किन्तु वर्णाश्रम धर्म की स्थापना तो स्वयं वेदों द्वारा की जाती है, जिससे मानव समाज विभिन्न जातियों, वृत्तियों तथा आध्यात्मिक पदों में बँटा हुआ है। तो भला भगवान् इस वैदिक प्रणाली से श्रद्धा हटाने के लिए संस्तुति कैसे करने लगे? इसका उत्तर इस श्लोक में दिया गया है, जो इस प्रकार है— *अन्येषां भावानाम्* या “अस्तित्व की अन्य दशाओं के” पद भौतिक शरीर, मन, वृत्ति इत्यादि के साथ झूठी पहचान के असंख्य विभागों का द्योतन करता है। ऐसी पहचान मोह है और वर्णाश्रम प्रणाली के भौतिक विभाग निश्चय ही इस मोह पर आधारित है। वैदिक ग्रंथ स्वर्ग में वास जैसे फल का वचन देते हैं और ऐसे फलों को प्राप्त करने के लिए साधनों की संस्तुति करते हैं। किन्तु ये फल तथा उन्हें प्राप्त करने के साधन अन्ततः मोह है। चूँकि यह जगत भगवान् की सृष्टि है, अतएव कोई इससे इनकार नहीं कर सकता कि इसका अस्तित्व सत्य है किन्तु जीव जो इस जगत की वस्तुओं को अपनी बपौती समझता है, निश्चित रूप से मोहग्रस्त होता है। यहाँ पर दृष्टान्त दिया जा सकता है कि खरगोश सत्य है और सींग भी सत्य है, किन्तु यदि कोई खरगोश के सींगों की कल्पना करता है, तो यह निश्चय ही मोह है यद्यपि खरगोश के सींग स्वप्न में दिख सकते हैं। इसी तरह जीव भौतिक जगत के भीतर स्थायी सम्बन्धों का स्वप्न देखता है। हो सकता है कि कोई यह स्वप्न देखे कि वह खीर खा रहा है किन्तु स्वप्न के इस राजसी भोजन में कोई पोषक मान नहीं होता।”

इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर की टिप्पणी है कि जिस तरह मनुष्य जगने पर स्वप्न का अनुभव तुरन्त भूल जाता है, उसी तरह कृष्णभावनामृत में स्थित मुक्तात्मा वेदों द्वारा प्रदान किये गये अच्छे से अच्छे फल को, यथा, स्वर्गलोक जाने को, निस्सार देखता है। इसीलिए भगवान् ने *भगवद्गीता* में अर्जुन को धर्म के नाम पर किये जाने वाले कर्मकाण्डों से विचलित न होकर, आत्म-

साक्षात्कार में स्थिर रहने की सलाह दी है।

यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान्
 भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान् ।
 स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
 स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृग्निद्रियेशः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यः—जो जीव; जागरे—जगते हुए; बहिः—बाह्य; अनुक्षण—क्षणिक; धर्मिणः—गुण; अर्थान्—शरीर, मन तथा उनके अनुभव; भुङ्क्ते—भोगता है; समस्त—समस्त; करणैः—इन्द्रियों से; हृदि—मन के भीतर; तत्-सदृक्षान्—जगते हुए में जैसे अनुभव; स्वप्ने—स्वप्नों में; सुषुप्ते—स्वप्नरहित गहरी नींद में; उपसंहरते—अज्ञान में लीन हो जाता है; सः—वह; एकः—एक; स्मृति—स्मरणशक्ति का; अन्वयात्—क्रम से; त्रि-गुण—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्त, इन तीन अवस्थाओं के; वृत्ति—कार्य; दृक्—देखना; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; ईशः—स्वामी बनता है।

जाग्रत रहने पर जीव अपनी सारी इन्द्रियों से भौतिक शरीर तथा मन के सारे क्षणिक गुणों का भोग करता है; स्वप्न के समय वह मन के भीतर ऐसे ही अनुभवों का आनन्द लेता है और प्रगाढ़ स्वप्नरहित निद्रा में ऐसे सारे अनुभव अज्ञान में मिल जाते हैं। जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति की सरणि को स्मरण करते तथा सोचते हुए, जीव यह समझ सकता है कि वह चेतना की तीनों अवस्थाओं में एक ही है और दिव्य है। इस तरह वह अपनी इन्द्रियों का स्वामी बन जाता है।

तात्पर्य : इस अध्याय के श्लोक ३० में कृष्ण ने कहा है कि मनुष्य को उचित साधनों से भौतिक द्वैत से दूर हो जाना चाहिए। भगवान् अब उसी की व्याख्या करते हैं। मनुष्य को चाहिए कि पहले चेतना की उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं पर विचार करे और तब आत्मा के रूप में अपनी दिव्य स्थिति को समझे। मनुष्य बालपन, केशोर, युवावस्था, मध्यावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था का अनुभव करता है और इन अवस्थाओं में लगातार जगते तथा स्वप्न देखते हुए वस्तुओं का अनुभव करता है। इसी तरह, सतर्क बुद्धि से, मनुष्य प्रगाढ़ निद्रा के समय चेतना के अभाव को, समझ सकता है। इस तरह बुद्धि द्वारा वह चेतना के अभाव का अनुभव कर सकता है।

यह तर्क किया जा सकता है कि जाग्रत अवस्था में इन्द्रियाँ अनुभव करती हैं, जबकि स्वप्न के समय मन अनुभव करता है। किन्तु भगवान् यहाँ पर इन्द्रियेशः कहते हैं—जीव ही इन्द्रियों तथा मन का स्वामी है, यद्यपि वह क्षणिक रूप से उनके प्रभाव में आ जाता है। कृष्णभावनामृत से मनुष्य अपने मन तथा इन्द्रियों का स्वामी बन सकता है। यही नहीं, चूँकि जीव चेतना की इन तीनों अवस्थाओं में अपने

अनुभवों को स्मरण रख सकता है, इसीलिए वह चेतना की सारी अवस्थाओं का अनुभवकर्ता या द्रष्टा है। वह स्मरण करता है, “मैंने स्वप्न में इतनी सारी वस्तुएँ देखीं, किन्तु उसके बाद स्वप्न टूट गया और मैं कुछ भी न देख सका। अब मैं जग रहा हूँ।” हर व्यक्ति इस सर्वव्यापी अनुभव को समझ सकता है और इसी तरह वह यह समझ सकता है कि उसकी वास्तविक पहचान (सत्ता) शरीर तथा मन से पृथक् है।

एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था

मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः ।

सञ्छिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण

ज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विमृश्य—विचार करके; गुणतः—गुणों से; मनसः—मन की; त्रि-अवस्थाः—चेतना की तीन अवस्थाएँ; मत्-मायया—मेरी मायाशक्ति के प्रभाव से; मयि—मुझमें; कृताः—आरोपित; इति—इस प्रकार; निश्चित-अर्थाः—जिन्होंने आत्मा के वास्तविक अर्थ को निश्चित कर लिया है; सञ्छिद्य—काट कर; हार्दम्—हृदय में स्थित; अनुमान—तर्क द्वारा; सत्-उक्ति—तथा मुनियों और वैदिक ग्रंथों के आदेशों से; तीक्ष्ण—तेज; ज्ञान—ज्ञान की; असिना—तलवार से; भजत—आप की सारी पूजा; मा—मुझको; अखिल—समस्त; संशय—संदेह; आधिम्—कारण (मिथ्या अभिमान)।

तुम्हें विचार करना चाहिए कि किस तरह, प्रकृति के गुणों द्वारा उत्पन्न, मन की ये तीन अवस्थाएँ, मेरी मायाशक्ति के प्रभाव से, मुझमें कृत्रिम रूप से विद्यमान मानी गई है। तुम्हें आत्मा की सत्यता को सुनिश्चित कर लेने के बाद, तर्क तथा मुनियों एवं वैदिक ग्रंथों के आदेशों से प्राप्त, ज्ञानरूपी तेज तलवार से मिथ्या अभिमान को पूरी तरह काट डालना चाहिए क्योंकि यही समस्त संशयों को प्रश्रय देने वाला है। तब तुम सबों को, अपने हृदयों में स्थित, मेरी पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : जिसने दिव्य ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह सामान्य चेतना की तीन अवस्थाओं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्त—पर आश्रित नहीं रहता। इस तरह वह अपने मन को भगवान् की अपरा शक्ति का भोक्ता बनने की प्रवृत्ति से मुक्त कर लेता है और हर वस्तु को भगवान् की शक्ति के अंशरूप में देखता है, जो कि केवल भगवान् के भोग के लिए होती है। चेतना की ऐसी अवस्था में मनुष्य सहज ही भगवान् की भक्ति में आता है, जिसे भगवान् हंस, ब्रह्मा के पुत्रों से ग्रहण करने का उपदेश दे रहे हैं।

ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं
 दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम् ।
 विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया
 स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

ईक्षेत—देखना चाहिए; विभ्रमम्—भ्रम या त्रुटि के रूप में; इदम्—इस (भौतिक जगत); मनसः—मन का; विलासम्—प्राकट्य या कूदफाँद; दृष्टम्—आज है; विनष्टम्—कल नहीं है; अति-लोलम्—अत्यन्त चलायमान; अलात-चक्रम्—जलती लकड़ी को घुमाने से बना हुआ गोला, लुकाठ की बनेठी; विज्ञानम्—सहज सचेतन आत्मा; एकम्—एक है; उरुधा—अनेक विभागों में; इव—मानो; विभाति—प्रकट होती है; माया—यह माया है; स्वप्नः—मात्र स्वप्न; त्रिधा—तीन विभागों में; गुण—गुणों का; विसर्ग—विकार का; कृतः—उत्पन्न; विकल्पः—अनुभूति या कल्पना का भेद ।

मनुष्य को देखना चाहिए कि यह भौतिक जगत मन में प्रकट होने वाला स्पष्ट भ्रम है, क्योंकि भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व अत्यन्त क्षणिक है और वे आज है, किन्तु कल नहीं रहेंगी। इनकी तुलना लुकाठ के घुमाने से बने लाल रंग के गोले से की जा सकती है। आत्मा स्वभाव से एक ही विशुद्ध चेतना के रूप में विद्यमान रहता है। किन्तु इस जगत में वह अनेक रूपों और अवस्थाओं में प्रकट होता है। प्रकृति के गुण आत्मा की चेतना को जाग्रत, सुप्त तथा सुषुप्त, इन तीन अवस्थाओं में बाँट देते हैं। किन्तु ये अनुभूति की ऐसी विविधताएँ, वस्तुतः माया है और इनका अस्तित्व स्वप्न की ही तरह होता है।

तात्पर्य : अब भगवान् मन तथा इन्द्रिय-विषयों की मायामय अन्योन्य क्रिया को लाँघने की एक अतिरिक्त विधि बताते हैं। लास का अर्थ है “कूदना” या “नाचना” अतः यहाँ पर मनसो विलासम् यह सूचित करता है कि मन ऊपरी तौर पर एक जीवन-धारणा से दूसरी में कूदफाँद मचाता है। किन्तु हमारी मूल चेतना एक है (विज्ञानम् एकम्)। अतएव मनुष्य को जगत के “आज यहाँ, कल वहाँ” स्वभाव का ठीक से अध्ययन करना चाहिए और अपने को माया की विविधता से अलग कर लेना चाहिए।

दृष्टिमततः प्रतिनिवर्त्य निवृत्ततृष्णा-
 स्तूष्णीं भवेन्निसुखानुभवो निरीहः ।
 सन्दृश्यते क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या
 त्यक्तं भ्रमाय न भवेत्स्मृतिरानिपातात् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

दृष्टिम्—दृष्टि; ततः—उस माया से; प्रतिनिवर्त्य—हटाकर; निवृत्त—समाप्त; तृष्णाः—लालसा; तूष्णीम्—मौन; भवेत्—हो जाना चाहिए; निज—अपना (आत्मा का); सुख—सुख; अनुभवः—अनुभव करते हुए; निरीहः—निष्क्रिय; सन्दृश्यते—देखा जाता

है; क्व च—कभी कभी; यदि—यदि; इदम्—यह संसार; अवस्तु—असत्य; बुद्ध्या—चेतना से; त्यक्तम्—त्यागा हुआ; भ्रमाय—और अधिक भ्रम; न—नहीं; भवेत्—हो सके; स्मृतिः—स्मरणशक्ति; आ-निपातात्—शरीर त्यागने तक ।

भौतिक वस्तुओं के क्षणिक भ्रामक स्वभाव को समझ लेने के बाद और अपनी दृष्टि को भ्रम से हटा लेने पर, मनुष्य को निष्काम रहना चाहिए। आत्मा के सुख का अनुभव करते हुए, मनुष्य को भौतिक बोलचाल तथा कार्यकलाप त्याग देने चाहिए। यदि कभी वह भौतिक जगत को देखे तो उसे स्मरण करना चाहिए कि यह परम सत्य नहीं है, इसीलिए इसका परित्याग किया गया है। ऐसे निरन्तर स्मरण से मनुष्य अपनी मृत्यु पर्यन्त, पुनः भ्रम में नहीं पड़ेगा।

तात्पर्य : भौतिक शरीर का पालन करने के लिए भोजन करना तथा सोना तो पड़ता ही है। इस तरह मनुष्य को कभी कभी भौतिक जगत तथा अपने शरीर के मामलों में दखल देना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर उसे यह स्मरण करना चाहिए कि भौतिक जगत सत्य नहीं है, इसीलिए कृष्णभावनाभावित होने के लिए इसका परित्याग किया गया है। निरन्तर ऐसा स्मरण करने, अपने आप में आध्यात्मिक आनन्द का भोग करने तथा मन, वाणी, अथवा शरीर के किसी भी कार्यकलाप से विलग होने से, मनुष्य भौतिक भ्रम (माया) में नहीं पड़ेगा।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने इस प्रकार टीका की है, “ भगवान् की माया में रहते हुए, जीव को इन्द्रियतृप्ति की हर चिन्ता का परित्याग कर देना चाहिए और निजी भोग के लिए कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए। प्रत्युत उसे भगवद्भक्ति के माध्यम से आध्यात्मिक आनन्द की खोज करनी चाहिए। भगवान् कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को फिर से जोड़ने पर, वह समझ सकेगा कि निजी भोग के लिए किसी वस्तु को स्वीकार करने से, अनुरक्ति उत्पन्न होगी और इस तरह वह माया के द्वारा विमोहित कर लिया जायेगा। क्रमशः आध्यात्मिक शरीर विकसित करने से, मनुष्य जगत के अन्दर किसी वस्तु को भोगना नहीं चाहेगा।”

देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा

सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।

दैवादपेतमथ दैववशादुपेतं

वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

देहम्—भौतिक शरीर; च—भी; नश्वरम्—नाशवान; अवस्थितम्—बैठा; उत्थितम्—उठा; वा—अथवा; सिद्धः—सिद्ध; न पश्यति—नहीं देखता; यतः—क्योंकि; अध्यगमत्—उसने प्राप्त कर लिया है; स्वरूपम्—अपनी असली आध्यात्मिक पहचान; दैवात्—भाग्यवश; अपेतम्—गया हुआ; अथ—अथवा इस तरह; दैव—भाग्य के; वशात्—वश से; उपेतम्—पाया हुआ; वासः—कपड़े; यथा—जिस तरह; परिकृतम्—शरीर में पहना हुआ; मदिरा—शराब का; मद—नशे से; अन्धः—अन्धा हुआ।

जिस प्रकार शराब पिया हुआ व्यक्ति यह नहीं देख पाता कि उसने कोट पहना है या कमीज, उसी तरह जो व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार में पूर्ण है और जिसने अपना नित्य स्वरूप प्राप्त कर लिया है, वह यह नहीं देखता कि नश्वर शरीर बैठा हुआ है या खड़ा है। हाँ, यदि ईश्वर की इच्छा से उसका शरीर समाप्त हो जाता है या उसे नया शरीर प्राप्त होता है, तो स्वरूपसिद्ध व्यक्ति उसे उसी तरह नहीं देखता जिस तरह शराबी अपनी बाह्य वेशभूषा को नहीं देखता।

तात्पर्य : जिस कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ने अपना आध्यात्मिक स्वरूप प्राप्त कर लिया है, वह इस जगत में इन्द्रियतृप्ति को अपना जीवन-लक्ष्य नहीं मानता। वह निरन्तर भगवान् की सेवा में लगा रहता है और जानता रहता है कि नश्वर शरीर तथा चंचल मन भौतिक है। वह कृष्णभावनामृत की उत्तम बुद्धि द्वारा भगवान् की सेवा में लगा रहता है। इस श्लोक में शराबी व्यक्ति का सुन्दर उदाहरण दिया गया है। यह सामान्य ज्ञान है कि सामाजिक गोष्ठियों में लोग शराब पीकर अपनी बाह्य चेतना खो देते हैं। इसी प्रकार मुक्तात्मा पहले से आध्यात्मिक शरीर प्राप्त कर चुकने के कारण यह जानता रहता है कि उसका अस्तित्व भौतिक शरीर पर निर्भर नहीं करता। किन्तु मुक्तात्मा शरीर को दण्ड नहीं देता, अपितु अपने भाग्य को ईश्वरेच्छा मान कर निरपेक्ष रहता जाता है।

देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्

स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः ।

तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः

स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

देहः—शरीर; अपि—भी; दैव—ब्रह्म के; वश-गः—नियंत्रण में; खलु—निस्सन्देह; कर्म—सकाम कर्मों की शृंखला; यावत्—जब तक; स्व-आरम्भकम्—जो अपने को प्रारम्भ करता है या आगे बढ़ाता है; प्रतिसमीक्षते—जीवित रहता तथा प्रतीक्षा करता रहता है; एव—निश्चय ही; स-असुः—प्राण तथा इन्द्रियों सहित; तम्—उस (शरीर) को; स-प्रपञ्चम्—अभिव्यक्तियों की विविधता सहित; अधिरूढ—उच्च स्थान को प्राप्त; समाधि—सिद्धि अवस्था; योगः—योग-प्रणाली में; स्वाप्नम्—स्वप्न की तरह; पुनः—फिर; न भजते—पूजा नहीं करता; प्रतिबुद्ध—प्रबुद्ध; वस्तुः—परम सत्य में।

भौतिक शरीर निश्चय ही विधाता के वश में रहता है, अतः यह शरीर तब तक इन्द्रियों तथा प्राण के साथ जीवित रहता है जब तक उसका कर्म प्रभावशाली रहता है। किन्तु स्वरूपसिद्ध

आत्मा, जो परम सत्य के प्रति प्रबुद्ध हो चुका है और जो योग की पूर्ण अवस्था में उच्चारूढ है, कभी भी शरीर तथा उसकी अनेक अभिव्यक्तियों के समक्ष नतमस्तक नहीं होगा क्योंकि वह इसे स्वप्न में देखे गये शरीर के समान जानता है।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् कृष्ण ने पिछले श्लोक में संस्तुति की है कि स्वरूपसिद्ध आत्मा को शरीर पर ध्यान नहीं देना चाहिए, किन्तु यहाँ पर दिये हुए भगवान् के कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य को मूर्खतावश न तो शरीर को भूखों मारना चाहिए न क्षति पहुँचानी चाहिए, अपितु तब तक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिए जब तक पिछले कर्मफल की शृंखला पूरी तरह समाप्त नहीं हो जाती। उस समय शरीर दैव के अनुसार स्वतः मर जायेगा। तब निम्नलिखित संशय उठ सकता है : क्या, यदि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति शरीर के पालन में ठीक से ध्यान देता है, तो वह फिर से अनुरक्त हो सकता है ? भगवान् कृष्ण यहाँ पर कहते हैं कि जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण को वास्तविक वस्तु के रूप में समझ कर कृष्णभावनामृत में ऊपर उठ चुका है, वह फिर से भौतिक शरीर की मोहमयी पहचान के आगे नहीं झुकता, क्योंकि यह तो स्वप्न में देखे हुए शरीर की तरह होता है।

मयैतदुक्तं वो विप्रा गुह्यं यत्साङ्ख्ययोगयोः ।
जानीत मागतं यज्ञं युष्मद्भर्मविवक्षया ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; एतत्—यह (ज्ञान); उक्तम्—कहा गया; वः—तुमसे; विप्राः—हे ब्राह्मणो; गुह्यम्—गोपनीय; यत्—जो; साङ्ख्य—आत्मा से पदार्थ को विभेदित करने की दार्शनिक विधि का; योगयोः—तथा अष्टांग योग-पद्धति का; जानीत—समझो; मा—मुझको; आगतम्—आया हुआ; यज्ञम्—यज्ञ के स्वामी विष्णु के रूप में; युष्मत्—तुम्हारा; धर्म—धार्मिक कर्तव्य; विवक्षया—बतलाने की इच्छा से।

हे ब्राह्मणो, अब मैं तुम लोगों से सांख्य का वह गोपनीय ज्ञान बतला चुका हूँ, जिसके द्वारा मनुष्य पदार्थ तथा आत्मा में अन्तर कर सकता है। मैंने तुम लोगों को अष्टांग योग का भी ज्ञान दे दिया है, जिससे मनुष्य ब्रह्म से जुड़ता है। तुम लोग मुझे भगवान् विष्णु समझो जो तुम लोगों के समक्ष वास्तविक धार्मिक कर्तव्य बताने की इच्छा से प्रकट हुआ है।

तात्पर्य : ब्रह्मा के पुत्रों की श्रद्धा को बढ़ाने तथा अपनी शिक्षाओं की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए, अब भगवान् कृष्ण अपने को भगवान् विष्णु कहते हैं। वैदिक वाङ्मय में कहा गया है यज्ञो वै विष्णुः। सांख्य तथा अष्टांग योग समझाने के बाद, अब वे मुनियों के इस मूल प्रश्न का उत्तर देते हैं कि,

“आप कौन है ?” इस तरह ब्रह्मा तथा उनके पुत्रों को भगवान् हंस ने ज्ञान प्रदान किया ।

अहं योगस्य साङ्ख्यस्य सत्यस्यर्तस्य तेजसः ।

परायणं द्विजश्रेष्ठाः श्रियः कीर्तेर्दमस्य च ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; योगस्य—योग-पद्धति के; साङ्ख्यस्य—सांख्य दर्शन के; सत्यस्य—सत्य के; ऋतस्य—सत्यमय धार्मिक सिद्धान्तों के; तेजसः—शक्ति के; पर-अयनम्—परम आश्रय; द्विज-श्रेष्ठाः—हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो; श्रियः—सौन्दर्य का; कीर्तेः—कीर्ति का; दमस्य—आत्मसंयम का; च—भी ।

हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो, तुम लोग यह जानो कि मैं योग-पद्धति, सांख्य दर्शन, सत्य, ऋत, तेज, सौन्दर्य, यश तथा आत्मसंयम का परम आश्रय हूँ ।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार सत्यस्य तथा ऋतस्य पर्यायवाची शब्द है, जो क्रमशः धार्मिक सिद्धान्तों का समुचित पालन तथा धर्म की विश्वसनीय प्रस्तुति को बतलाने वाले है । श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इंगित करते हैं कि भगवान् के प्रस्तुतिकरण से ब्रह्मा के पुत्र आश्चर्यचकित थे और सोच रहे थे, “हमने कितना अद्भुत ज्ञान अभी अभी सुना।” भगवान् ने उनके आश्चर्य को पहचान कर, यह श्लोक कहा जिससे वे उन्हें समझ सकें ।

मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम् ।

सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयोऽगुणाः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; भजन्ति—सेवा करते तथा शरण ग्रहण करते हैं; गुणाः—गुण; सर्वे—सभी; निर्गुणम्—गुणों से मुक्त; निरपेक्षकम्—विरक्त; सु-हृदम्—शुभचिन्तक; प्रियम्—अत्यन्त प्रिय; आत्मानम्—परमात्मा को; साम्य—समान रूप से सर्वत्र स्थित; असङ्ग—विरक्ति; आदयः—इत्यादि; अगुणाः—गुणों के विकार से मुक्त ।

ऐसे सारे के सारे उत्तम दिव्य गुण—जैसे कि गुणों से परे होना, विरक्त, शुभचिन्तक, अत्यन्त प्रिय, परमात्मा, सर्वत्र समरूप से स्थित तथा भौतिक बन्धन से मुक्त होना—जो कि गुणों के विकारों से मुक्त है, मुझमें शरण तथा पूजनीय वस्तु पाते हैं ।

तात्पर्य : चूँकि पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण ने अपने उत्तम स्वभाव का वर्णन किया है, अतएव ब्रह्मा के पुत्रों ने यह सोच कर कि उन्होंने भगवान् के मन में कुछ अहंकार ढूँढ लिया है, भगवान् के पद के बारे में कुछ सन्देह व्यक्त किया होगा । इसीलिए उन्होंने भगवान् हंस द्वारा दिये गये आदेशों पर सन्देह प्रकट किया होगा । ऐसी हिचकिचाहट की पूर्व कल्पना करते हुए, इस श्लोक में भगवान् तुरन्त

स्थिति स्पष्ट कर देते हैं। भगवान् बतलाते हैं कि ब्रह्मा समेत सारे साधारण जीवों के विपरीत, भगवान् का दिव्य शरीर उनके नित्य आत्मा से भिन्न नहीं होता और उनमें मिथ्या अहंकार जैसा भौतिक गुण नहीं होता। भगवान् का दिव्य रूप सच्चिदानन्द रूप है और इस तरह *निर्गुणम्*—गुणों से परे है। चूँकि भगवान्, माया द्वारा प्रदत्त तथाकथित भोग की सर्वथा उपेक्षा करते हैं, अतएव वे *निरपेक्षकम्* कहलाते हैं और अपने भक्तों के सर्वश्रेष्ठ हितैषी होने से, *सुहृदम्* कहलाते हैं। *प्रियम्* बतलाता है कि भगवान् सर्वोच्च प्रेम के पात्र हैं और वे अपने भक्तों के साथ आश्चर्यजनक स्नेहिल सम्बन्ध स्थापित करते हैं। *साम्य* सूचित करता है कि भगवान् निरपेक्ष तथा सभी भौतिक स्थितियों में विरक्त रहते हैं। ये तथा अन्य श्रेष्ठ गुण भगवान् में शरण पाते हैं तथा पूज्य वस्तु मानते हैं, जो भौतिक उपाधियों पर ध्यान नहीं देते, अपितु अपनी शरण लेने वाले हर एक को कृपा का दान देते हैं। *श्रीमद्भागवत* (१.१६-२६.३०) में माता भूमि ने भगवान् के कुछ दिव्य गुण बताए हैं और *भक्तिरसामृतसिन्धु* में अन्य गुण मिलते हैं। वस्तुतः भगवान् के गुण असीम हैं किन्तु यहाँ पर उनमें से थोड़े-से गुण भगवान् की दिव्य स्थिति को स्थापित करने के लिए दिए गये हैं।

श्रील मध्वाचार्य ने *कालसंहिता* से यह उद्धरण दिया है—“देवताओं में दिव्य गुण पूर्ण रीति से नहीं पाये जाते। उनका ऐश्वर्य सीमित होता है, अतएव वे भगवान् या परब्रह्म की पूजा करते हैं, जो समस्त भौतिक गुणों से मुक्त होने के साथ ही समस्त दिव्य गुणों से युक्त हैं। ये गुण उनके शरीर में विद्यमान रहते हैं।”

इति मे छिन्नसन्देहा मुनयः सनकादयः ।

सभाजयित्वा परया भक्त्यागृणत संस्तवैः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; मे—मेरे द्वारा; छिन्न—विनष्ट; सन्देहाः—सारे सन्देह; मुनयः—मुनिगण; सनक—आदयः—सनक कुमार इत्यादि; सभाजयित्वा—पूर्णतया मेरी पूजा करके; परया—दिव्य प्रेम के लक्षणों से युक्त; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; अगृणत—मेरी महिमा का उच्चारण किया; संस्तवैः—सुन्दर स्तुतियों द्वारा।

भगवान् कृष्ण ने आगे कहा : हे उद्धव, इस प्रकार मेरे वचनों से सनक इत्यादि मुनियों के सारे संदेह नष्ट हो गये। दिव्य प्रेम तथा भक्ति के साथ मेरी पूजा करते हुए, उन्होंने उत्तम स्तुतियों द्वारा मेरी महिमा का गान किया।

तैरहं पूजितः संयक्संस्तुतः परमर्षिभिः ।
प्रत्येयाय स्वकं धाम पश्यतः परमेष्ठिनः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तैः—उनके द्वारा; अहम्—मैं; पूजितः—पूजा गया; संयक्—भलीभाँति; संस्तुतः—भलीभाँति स्तुति किया गया; परम-
ऋषिभिः—महामुनियों द्वारा; प्रत्येयाय—मैं लौट आया; स्वकम्—अपने; धाम—धाम; पश्यतः परमेष्ठिनः—ब्रह्मा के देखते-
देखते।

इस तरह सनक ऋषि इत्यादि महामुनियों ने मेरी भलीभाँति पूजा की और मेरे यश का गान
किया। मैं ब्रह्मा के देखते-देखते अपने धाम लौट गया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के “हंसावतार द्वारा ब्रह्मा-पुत्रों के प्रश्नों के उत्तर”
नामक तेरहवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण
हुए।